समण-भावो

(श्रमण भाव)

मंगल आशीर्वाद :

परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

ग्रंथकार :

आचार्य वसुनंदी मुनि

जिनशासन नायक भगवान् महावीर स्वामी के 2550वें निर्वाण महोत्सव पर परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा वी. नि. सं. 2550-2551 (सन् नव. 2023-नव. 2024) को **''अहिंसकाहार वर्ष''** के रूप में उद्घोषित किया गया। इसी **''अहिंसकाहार वर्ष''** के उपलक्ष्य में प्रकाशित

ग्रंथ : समण-भावो (श्रमण भाव)

मंगल आशीर्वाद : परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज

ग्रंथकार : आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2024)

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : सदुपयोग

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि.)

ISBN : **978-93-94199-54-5**

प्राप्ति स्थल : ई. 16 सैक्टर 51, नोएडा-201301
मो. 9971548889, 9867557668, 880009125

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली
मो. 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

सम्पादकीय

नागो भाति मदेन कं जलरुहैः पूर्णेन्दुना शर्वरी,
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पण्डितैः।
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरं,
सत्पुत्रेण कुलं नृपेण वसुधा लोकत्रयं धार्मिकैः॥

गजराज अपने मद से, नीर कमलसमूह से, रात्रि पूर्ण चंद्रमा से, वाणी व्याकरण से, नदियाँ हंस-मिथुन से, सभा पण्डितों से, स्त्रियाँ शील से, अश्व वेग से, घर नित्य होते रहने वाले उत्सवों से, कुल सुपुत्र से, पृथ्वी राजा से और तीन लोक धार्मिकों से शोभायमान होते हैं।

जिस धर्म से संयुक्त होने पर जीव धर्मी या धार्मिक की श्रेणी में जाकर परिवार, समाज, देश वा तीन लोक का तिलकायित वा आभूषण स्वरूप बनता है उस धर्म का प्रवर्तन प्रत्येक काल में तीर्थंकर प्रभु करते हैं। यहीं से त्याग-तपस्यामूलक श्रमण परंपरा भी गौरवान्वित होती है। अनादिकालीन यह श्रमण परंपरा काल दोष के कारण कभी किसी क्षेत्र विशेष में लुप्त भी दिखाई देती है किन्तु तीन लोक या मनुष्य लोक की अपेक्षा यह अविच्छिन्न व अव्याबाध है। इन श्रमणों ने ही धर्म की अभूतपूर्व प्रभावना विश्वभर में की है। इतना ही नहीं इस श्रमणचर्या को बड़े-बड़े सम्राटों ने अंगीकार कर स्वयं के जीवन को धन्य किया है।

चक्रवर्ती भरत, राजा श्रेणिक, राजा अजातशत्रु, मौर्यवंश के संस्थापक आर्यावर्त के एकछत्र सम्राट चंद्रगुप्त, राजा अशोक, सम्राट खारवेल, राजा अमोघवर्ष, राजा विक्रमादित्य आदि सभी श्रमण परंपरा के अनुयायी रहे एवं भरत, चंद्रगुप्त, अमोघवर्ष, शिवकोटि आदि राजा तो स्वयं श्रमण धर्म अंगीकार कर आत्म-साधना में तत्पर हुए। जीवन के अंतिम चरणों में आचार्य दोलामस के शिष्य कोलामस (कल्याण मुनि) का सान्निध्य पाकर सिकन्दर ने भी जैन धर्म स्वीकार किया और इतना ही नहीं जीवन की सार्थकता को जानने का सम्यक् पुरुषार्थ भी किया। प्रियदर्शी सम्राट अशोक के मानसपटल पर जैन श्रमण परंपरा का प्रभूत प्रभाव उनके एक स्तंभ लेख में खुदवायी आज्ञा से प्राप्त होता है, जिसमें उन्होंने कहा कि मेरे ''धर्ममहामात्य निर्ग्रन्थ दिगंबर जैनों की सुख-सुविधा एवं पर्याप्त सुरक्षा आदि की सुव्यवस्था करेंगे।''

'इमे वियापटा होहंति ति निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति। नानापासंडेसु पि मे कटे वियापटा होहंति ति पटीविसठं पटीविसठं तेसु तेसु ते-ते महामाता धन महामाता चु मे एतेसु। चेव वियापटा सवेसु च अंनेसु पासंडेसु देवानांपिये पियदंसि लाजा हेवं आहा।''

Translation: I have so organised that they (senior Ministers for Religious affairs) will make arrangement for Nirgranthas (Digamber Jains) and for various other faiths. I have appointed many senior Ministers to look after various categories of mankind (society)and also

have assigued them many specific tasks; but I have appointed 'senior Minister for Religious affairs for these as well as for all other faiths. Thus speaks the Ruler the beloved of the Gods.

''श्राम्यति इति श्रमण:'' व्युत्पत्ति के अनुरूप श्रमण-परंपरा श्रममूलक है।

'श्रमण' शब्द 'श्रमशील' अथवा 'तप: श्रम' अर्थ में श्रमण यतियों के अन्वितार्थाभिधान में प्रयुक्त होता है।

''शरीरभव्यो द्रव्यश्रमण: चारित्रोपलक्षित: संयतश्च भावश्रमण:।''

जो शरीर से भव्य (प्रशान्तमूर्ति निर्ग्रन्थ) है, वह द्रव्यश्रमण है; तथा जो चारित्रवंत एवं संयमी है, वह भावश्रमण है।

इस 'श्रमण' शब्द के पर्यायवाची नामों का वर्णन करते हुए लिखा है–

''मयूरलिंगी-महाव्रती-परमहंस - पाणिपात्री- नग्न-योगी -यति-क्षपणक-मलधारि-मुण्डक-व्रात्य-दिगम्बर-अचेलक- जिन - शरीरमात्रपरिग्रह- प्रव्रजित-अनगार-पाखण्डी- चरक-तापस - भिक्षु- परिव्राजक- निर्ग्रन्थ-संयत-ऋषि - मुक्त - मुनि - क्षान्त - दान्त-विरत - तीर्ण तीरस्थ-आजीवक इति श्रमणस्य तत्त्वभेदपर्यायैर्नामानि भवन्ति।''

वस्तुत: यह शब्द 'श्रमण' दिगंबर जैन निर्ग्रन्थ परंपरा का विशिष्ट शब्द है, जो यथाजात दिगंबर मुनियों के लिए

व्यवहृत होता है। निघण्टु के अनुसार भी इस प्रकार है, **श्रमणाः दिगंबराः।** दंसणपाहुड में भी प्ररूपित है–**श्रमणो दिगम्बरो भवति।** भागवत में उल्लिखित है **''श्रमणा वातरशना आत्मविद्या-विशारदाः''।**

इन श्रमणों की श्रद्धापूर्वक स्तुति, वंदना, अर्चना व पूजन भव्यों के मनोरथों को पूर्ण कर उन्हें शाश्वत सुख प्रदान करने में समर्थ है। तभी तो कल्याणेच्छुक भव्यजनों ने सदैव इनके चरणों का आश्रय ले स्वयं का सौभाग्य वृद्धिंगत किया है। कलिंग सम्राट खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख में लिखा हुआ है कि वह लाखों आर्हत श्रमणों को आहारदान आदि दिया करता था–**''पानं भोजनं ददाति अरहतानं समणाणं च ददाति सतसहस्सेहि।''**

आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने भी अपने ''णिग्गंथ थुदी'' नामक ग्रंथ में लिखा है–

अग्गिं विणा ण धूमो, मेहेणं विणा ण विट्ठी कयावि।
तह णिग्गंथेण विणा, मोक्खसुहं वि णो होदि कया॥105॥

जिस प्रकार अग्नि के बिना धूँआ और मेघ के बिना वृष्टि कदापि नहीं होती, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ दिगंबर श्रमण के बिना मोक्ष का सुख भी नहीं होता है।

''श्रमण कैसे होते हैं'' इसका वर्णन 'महाभारत' में इस प्रकार है–

एकश्चरति यः पश्यन्न जहाति न हीयते।
अनग्निरनिकेतः स्याद् भिक्षार्थं ग्राममाश्रयेत्॥

अश्वस्तनविधानः स्यात् मुनिर्भावसमन्वितः।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिवेषिता॥
यस्मिन्न वाचः प्रविशन्ति कूपे प्राप्त शिक्षा इव।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत्॥237/5-7॥

–(महाभारत, शांति.)

जो चार हाथ भूमि देखते हुए एकाकी विचरण करते हैं, न किसी का त्याग करते हैं, न किसी से त्यक्त होते हैं, अर्थात् जो स्नेह एवं बैरभाव से रहित हैं तथा लोक-तिरस्कार के पात्र भी नहीं हैं, जो गृहवास नहीं करते हैं, अग्नि वर्जित अर्थात् अग्नि प्रज्ज्वलित कर इच्छानुसार अन्नपाक एवं शीतनिवारणार्थ उसका उपयोग नहीं करते हैं, तथा जो भिक्षा-ग्रहण के लिए ग्राम में आते हैं, वे मुनि हैं। जो 'श्वः' अर्थात् 'आने वाले कल' के लिए किंचित् मात्र भी सामग्री संजोकर नहीं रखते हैं और न ही उसके संचय की भावना मन में लाते हैं, जो समय पर ही हित-मित आहार ग्रहण करते हैं और दिन में एक ही बार आहार ग्रहण करते हैं, वे 'मुनि' हैं। जो अपने प्रति कहे गए कटु-कठोर दुर्वचनों को अथवा प्रशंसा-स्तुति के वचनों को सुनकर उनका खेद या हर्ष भी नहीं करते हैं। जिस प्रकार कुएँ में फेंका गया पत्थर लौटकर वापस नहीं आता है, उसी प्रकार जो वक्ता अच्छे या बुरे वचनों का प्रत्युत्तर नहीं देते हैं वे ही 'श्रमण' कैवल्य धाम के पथिक-अधिकारी होते हैं।

अचेलत्वं च लुंचित्वं व्युत्सृष्टांगं सपिच्छकम्।
एतदुत्सर्गलिंगं तु जगृहे मुनिपुंगवः॥

–(आ. दामनंदि, पुराणसार संग्रह)

वस्त्ररहितता, केशलुंचिता, अंग निस्पृहता और मयूर-पिच्छिका इन स्वाभाविक चिह्नों को मुनि ग्रहण करते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ **''समण-भावो''** (श्रमण भाव) में श्रमणों के अट्ठाईस मूलगुण व चौंतीस उत्तरगुणों के वर्णन के साथ प्रत्येक का पालन करते हुए वे श्रमण किस प्रकार की भावना भाते हैं इत्यादि का अत्यंत सुंदर प्रतिपादन है। नितांत कठिन दिगंबर श्रमण-चर्या का पालन करने वाले मुनिराज क्या चिंतन करते हैं जो असिधार रूप मोक्षमार्ग पर बढ़ते हुए उन्हें परम आनंद का अनुभव होता है, विशुद्धि से जीवन सुवासित रहता है; इस श्रमण-भाव ग्रंथ के अंतर्गत ग्रंथकार परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने उसका सजीव चित्रण किया है। जो अति विशुद्धिवर्द्धक है। यथा– रसनेंद्रिय जय नामक मूलगुण का पालन करते हुए मुनिराज चिंतन करते हैं–

अविजिद-रसणक्खं बहुदुहमूलं भववड्ढग-महबीयं।
तं अणुभवेमि अप्परसं आमुयिय पोग्गलियरसं॥33॥

रसनेन्द्रिय को नहीं जीतना–अविजित रसनेन्द्रिय बहुत दु:खों का मूल एवं संसार की वृद्धि करने वाला महाबीज है। अत: पौद्गलिक रस का त्यागकर मैं आत्मरस का अनुभव करता हूँ।

मिट्ठिट्ठभोयणे पोग्गलियत्थेसु लोलिक्कस्स खणस्स।
किं कुव्वसि अइरायं, घाडीइ अह सव्वा मिऊव्व॥34॥

क्षणभर की लोलुपता के लिए मिष्ट-इष्ट भोजन में, पौद्गलिक पदार्थों में अत्यंत राग क्यों करते हो? अरे! घाटी नीचे सब माटी है अर्थात् स्वाद मात्र तभी तक होता है जब तक खाद्य पदार्थ जिह्वा पर है उसके पश्चात् सब एक सा ही होता है।

वंदना आवश्यक का पालन करने वाले श्रमण भावना करते हैं–

लोयसिहरे विज्जंत-मुत्ता जे वि जिणवंदणाए ते।
कंखेमि भो जिणवरो! वंदण-वंदणीय-भावं च॥54॥

लोक के शिखर पर जो भी मुक्त जीव विद्यमान हैं वे सभी जिनवंदना से ही मुक्त-सिद्ध हुए हैं। हे जिनवर! मैं वंदन व वंदनीय भाव की आकांक्षा करता हूँ।

समत्व भाव धारण करते हुए श्रमण चिंतन करते हैं-

तिव्वपावकम्मुदये, जोगी धरेज्जा समत्तभावं दु।
एगकम्मफलं एगवारं भुंजेज्ज ण अण्णस्स॥61॥

तीव्र पापकर्म के उदय में योगी समत्व भाव धारण करते हैं। अहो! जीव अपने द्वारा बाँधे गए एक कर्म का फल एक ही बार भोगता है, अन्य किसी के कर्म का फल वह नहीं भोगता।

रस-रूव-गंधहीणो, अवत्तव्वो चेयणारूवो हं।
तच्चचिंतणेण विणा, णो समत्तं कम्मक्खओ वि॥64॥

मैं रस, रूप व गंध से हीन, अवक्तव्य व चेतना रूप हूँ। तत्त्वचिंतन के बिना समत्व भाव व कर्म का क्षय भी नहीं हो सकता।

ग्रंथ की प्रत्येक गाथा हृदय को विशुद्धि-नीर से संपूरित करने वाली है। मोक्षमार्ग का श्रम करने वाले इन श्रमण-आचार्य भगवन् के द्वारा श्रमण-भाव का निरूपक यह ग्रंथ मानो साहस, प्रेरणा, विशुद्धि व सतत् मोक्षमार्ग पर वृद्धिंगत होने का स्रोत ही है।

228 गाथाओं में निबद्ध यह ग्रंथ सभी के द्वारा पठनीय एवं श्रेष्ठ भव्यात्माओं द्वारा अनुकरणीय भी है। श्रमण परंपरा को गौरवान्वित करने वाले आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने अर्द्धशतक से अधिक ग्रंथों का व प्राकृत महाकाव्यों का लेखन कर नया इतिहास ही रच दिया है। नय, न्याय, विश्वशांति, विश्वधर्म, श्रावक व श्रमण चर्या, सिद्धान्त, अध्यात्म, नैतिक मूल्य, नीति अथवा संस्कृति व सभ्यता से अनुस्यूत ग्रंथों का लेखन कर मात्र जैन-जगत् को नहीं अपितु उन्होंने विश्व-साहित्य को दृढ़ता प्रदान की है।

आचार्य श्री द्वारा अविच्छिन्न ग्रंथों का लेखन उनकी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगिता, श्रुतभक्ति व साहित्य के प्रति विशेष रुचि को प्रमाणित करता ही है साथ ही प्रत्येक लघु वा वृहद् ग्रंथ में संपूर्ण आचार्य परंपरा का स्मरण उनकी परंपराचार्यों व गुरु के प्रति श्रद्धा को भी प्रस्फुटित करता है। संभवतः यह विनम्रता, लघुता एवं श्रद्धा उनकी लेखन शक्ति व विलक्षण बुद्धि का स्रोत भी हो। आचार्य श्री की इस अनुपम देन को युगों-युगों तक विस्मृत नहीं किया जा सकेगा। जिनशासन प्रभावना के स्तंभ जो साहित्य के रूप में आचार्य श्री आज निर्मापित कर रहे हैं उन्हीं स्तंभों का आधार ले यह जिनशासन सहस्रों वर्षों तक जीवंत और जयवंत रहेगा।

प्रस्तुत ग्रंथ **'समण-भावो'** अर्थात् श्रमण भाव के संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें, हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से ग्रंथाध्ययन करें। जन-जन के श्रद्धापुंज परम पूज्य राष्ट्रहितैषी संत अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी महाराज का संयम, तप, ज्ञान व साधना का सौरभ सहस्रों वर्षों तक विश्व को सुरभित करता रहे। गुरुवर श्री को आरोग्य लाभ हो एवं अपने लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करें। परमपूज्य गुरुवर श्री के चरणों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु!....

''जैनम् जयतु शासनम्''

श्री शुभमिति पौष कृष्ण सप्तमी — ॐ अर्हं नमः

श्री वीर निर्वाण संवत् 2550 — **आर्यिका वर्धस्वनंदनी**

बुधवार-3.1.2024

श्री जंबूस्वामी तपोस्थली

बोलखेडा, कामां (जिला डीग)

मनोगत

''समण-भावो'' यह कृति मेरे लिए विशेष पठनीय और मननीय है। इसके अनेक कारण हैं। सबसे पहला कारण है–**भाषा।** कृति का सृजन अभी तक की सर्वाधिक प्राचीन, प्रामाणिक, सरस और सरल प्राकृत भाषा में हुआ है। दिगम्बरत्व ही प्रकृति के सबसे निकट होता है, अतएव दिगम्बरी साधक प्रकृति की अभिव्यक्ति प्रकृति की भाषा प्राकृत में प्रायः ग्रन्थ लेखन की शुरुआत से ही करते आये हैं। यह भाषा हमारे मूलग्रन्थों की मूलभाषा है। वर्तमान आधुनिक युग में भी प्राकृत भाषामय ग्रन्थरत्न का उद्भव किसी आश्चर्य से कम नहीं है।

दूसरा कारण है–**विषय।** यह कृति मौलिक होते हुए भी जैन श्रमणाचार के आगमिक बिन्दुओं की प्रस्तुति नवीन चिंतन के साथ कर रही है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को आत्मसात करने वाले परम पुरुषार्थी श्रमण की साधना पद्धति, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पांच इंद्रियविजय, षट् आवश्यक, केशलोंच आदि सात शेषगुण रूप अट्ठाइस मूलगुण, बारह तप और बाइस परिषहजय रूप चौंतीस उत्तरगुण आदि का वर्णन पूर्वाचार्यों की सरणी का पूर्णतया अनुगमन करने वाला है। प्रायः स्वयं को संबोधित करते हुए मोक्षमार्ग के प्रत्येक पहलू को उजागर किया गया है इस ग्रन्थरत्न में।

तीसरा कारण है–**कृतिकार**। लेखक का उच्च आचरण उसके विचारों को उच्च बनाता है। जब लेखक स्वयं पंचाचार का पालन करने और कराने वाला हो तो कृति की उच्चस्तरीयता में रंच मात्र संदेह नहीं रह जाता है। जिनश्रुत के मर्मज्ञ, रत्नत्रयाराधक महाकवि आचार्य श्री 108 वसुनन्दि जी महाराज के हृदय से प्रस्फुटित यह कृति मात्र पठनीय और मननीय ही नहीं पूजनीय भी है। आचार्यश्री की सुदीर्घ साधना पद्धति के निचोड़ रूप अमृत का सिंचन मानो इस कृति में हुआ है।

मेरे लिए तो यह कृति पठनीय, मननीय और पूजनीय है। प्राकृत भाषा के प्रति मेरा अनन्य प्रेम जग-जाहिर है। प्राकृत भाषा में निबद्ध श्रेष्ठ रचना मेरे लिए बहुमूल्य रत्न से कम नहीं है। श्रमणचर्या पर मैंने शोधप्रबंध (Ph.D.) लिखा। अतः कृति की एक-एक गाथा मुझे मेरे शोध से जोड़कर बोध का प्रकाश उपलब्ध कराती हुई प्रतीत हो रही है। पूज्य आचार्यश्री का विराट व्यक्तित्व, चुम्बकीय वात्सल्य और जर-जर काया के अंदर विराजित परम विरक्त चैतन्य ने हमेशा मुझे प्रभावित और प्रोत्साहित किया है।

मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यह कृति आप तक जिस भी माध्यम से पहुँची हो, लेकिन यदि आप भी मेरी तरह इन तीन कारणों अथवा इनमें से एक कारण के भी दीवाने हैं, तो यह कृति आपको अद्भुत आनंद प्रदान करेगी। पूज्य आचार्यश्री के श्रीचरणों में नमन सहित...

डॉ. पुलक गोयल

जबलपुर

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	विषय	गाथा सं.	पृ.सं.
1.	मंगलाचरण	1	1
2.	अहिंसा महाव्रत व चिंतन	2-3	1
3.	सत्य महाव्रत व चिंतन	4-5	2
4.	अचौर्य महाव्रत व चिंतन	6-7	2
5.	ब्रह्मचर्य महाव्रत व चिंतन	8-9	3
6.	अपरिग्रह महाव्रत व चिंतन	10-11	3
7.	ईर्या समिति व चिंतन	12-13	4
8.	भाषा समिति व चिंतन	14-15	4
9.	एषणा समिति व चिंतन	16-20	5
10.	आदान-निक्षेपण समिति व चिंतन	21-22	6
11.	प्रतिष्ठापन समिति व चिंतन	23-24	6
12.	शुद्ध स्वभाव की भावना	25-27	6
13.	स्पर्शनेन्द्रिय जय व चिंतन	28-30	7
14.	रसनेन्द्रियजय व चिंतन	31-34	8
15.	घ्राणेन्द्रियजय व चिंतन	35-37	9
16.	चक्षुइंद्रिय जय व चिंतन	38-41	10

क्र. सं.	विषय	गाथा सं.	पृ.सं.
17.	कर्णेन्द्रिय जय व चिंतन	42-45	11
18.	इंद्रियविषय रत की दुर्गति	46-47	12
19.	विषयों में माध्यस्थ भाव	48	12
20.	समता व चिंतन	49-58	13
21.	वंदना व चिंतन	59-61	15
22.	स्तुति व चिंतन	62-64	16
23.	प्रतिक्रमण व चिंतन	65-70	17
24.	प्रत्याख्यान व चिंतन	71-73	18
25.	कायोत्सर्ग व चिंतन	74-77	19
26.	अचेलकत्व गुण व चिंतन	78-81	20
27.	एकभुक्ति गुण व चिंतन	82-84	21
28.	स्थितिभोजन गुण व चिंतन	85-86	22
29.	स्थितिशयन गुण व चिंतन	87-91	22
30.	अस्नान गुण व चिंतन	92-93	23
31.	अदंतधावनगुण व चिंतन	94-97	24
32.	केशलोंच गुण व चिंतन	98-102	25
33.	चौंतीस उत्तर गुण	103-104	26
34.	तप का स्वरूप	105	26

क्र. सं.	विषय	गाथा सं.	पृ.सं.
35.	तप के भेद	106-108	27
36.	बाह्य तप	109	27
37.	अनशन तप व चिंतन	110-111	28
38.	ऊनोदर तप व चिंतन	112-114	28
39.	वृत्तिपरिसंख्यान तप व चिंतन	115-117	29
40.	रसपरित्याग तप व चिंतन	118-120	30
41.	विविक्त शैय्यासन तप व चिंतन	121-123	31
42.	कायक्लेश तप व चिंतन	124-125	32
43.	अंतरंग तप	126	32
44.	प्रायश्चित्त तप व चिंतन	127-129	32
45.	विनय तप व चिंतन	130-132	33
46.	वैय्यावृत्ति तप व चिंतन	133-136	34
47.	स्वाध्याय तप व चिंतन	137-141	35
48.	कायोत्सर्ग तप व चिंतन	142-150	36
49.	ध्यान तप व चिंतन	151-155	38
50.	क्षुधा परीषहजय व चिंतन	156-157	39
51.	तृषा परीषहजय व चिंतन	158-159	40
52.	शीत परीषहजय व चिंतन	160-161	40

क्र. सं.	विषय	गाथा सं.	पृ.सं.
53.	ऊष्ण परीषहजय व चिंतन	162-163	41
54.	दंसमसक परीषहजय व चिंतन	164-165	41
55.	नग्न परीषहजय व चिंतन	166-167	42
56.	अरति-रति-परीषहजय व चिंतन	168-169	42
57.	स्त्री परीषहजय व चिंतन	170-171	43
58.	चर्या-निषद्या-शैय्या परीषहजय व चिंतन	172-175	43
59.	क्रोध परीषहजय व चिंतन	176	44
60.	वध परीषहजय व चिंतन	177-178	44
61.	याचना-अलाभ-परीषहजय व चिंतन	179-181	45
62.	रोग परीषहजय व चिंतन	182-183	46
63.	तृणस्पर्श परीषहजय व चिंतन	184-185	46
64.	मलपरीषहजय व चिंतन	186-188	47
65.	सत्कारपुरस्कार परीषहजय व चिंतन	189-190	48
66.	प्रज्ञा अज्ञान-अदर्शन-परीषहजय व चिंतन	191-196	48
67.	अनित्यानुप्रेक्षा चिंतन	197	50

क्र. सं.	विषय	गाथा सं.	पृ.सं.
68.	अशरणानुप्रेक्षा चिंतन	198	50
69.	संसारानुप्रेक्षा चिंतन	199	50
70.	एकत्वानुप्रेक्षा चिंतन	200-203	51
71.	अन्यत्वानुप्रेक्षा चिंतन	204-206	52
72.	अशुचि अनुप्रेक्षा चिंतन	207-209	52
73.	आस्रवानुप्रेक्षा चिंतन	210	53
74.	संवरानुप्रेक्षा चिंतन	211	53
75.	निर्जरानुप्रेक्षा चिंतन	212-213	54
76.	लोकानुप्रेक्षा चिंतन	214	54
77.	बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा चिंतन	215-218	55
78.	धर्मानुप्रेक्षा चिंतन	219	56
79.	संक्लिष्टासंक्लिष्ट भावना	220-221	56
80.	सोलहकारण भावना	222	56
81.	ग्रंथ पठन फल	223	57
82.	ग्रंथ लेखन उद्देश्य	224	57
83.	ग्रंथकार की लघुता	225	57
84.	अंतिम मंगलाचरण	226	58
85.	प्रशस्ति	227-228	58

आचार्य वसुनंदी मुनि विरचित

समण-भावो

(श्रमण भाव)

मंगलाचरण

अरिहा सव्वा सिद्धा, समणा जिणसमयं णमिय वोच्छामि।
समणभावं च कसाय-समस्स य समत्त-विड्ढीए॥1॥

सर्व अरिहंत, सिद्ध व श्रमणों (आचार्य, उपाध्याय व साधुओं) को नमस्कार कर कषायों के शमन व सम्यक्त्व की वृद्धि के लिए मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) समण-भावो (श्रमण-भाव) नामक ग्रंथ को कहता हूँ।

अहिंसा महाव्रत व चिंतन

तसथावराण हिंसा-आमिल्लणं सया णवकोडीहिं।
जीवमेत्तं पडि दयाभावो महव्वदं अहिंसा॥2॥

नव कोटि (मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदन, समरंभ, समारंभ व आरंभ) से त्रस व स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करना एवं जीव मात्र के प्रति दयाभाव अहिंसा महाव्रत है।

देहेण हिंसकज्जं, वयणेण सावज्ज-भासणं णेव।
मणेण असुहचिंतणं, णेव करेज्ज सुव्वद-सुइस्स॥3॥

इस अहिंसा महाव्रत की निर्मलता के लिए शरीर से हिंसक कार्य, वचन से सावद्य भाषण व मन से अशुभ चिंतन नहीं करना चाहिए।

सत्य महाव्रत व चिंतन

चउविह-मोसवयणं ण, वदिदव्वं जोगीहि तिकरणेहिं।
तिलोए तियाले तं, उज्झेज्ज सच्चवदं लहिदुं।।4।।

योगियों को तीनों करणों (मन, वचन, काय) से चार प्रकार के असत्य वचन नहीं बोलने चाहिए। सत्य महाव्रत की प्राप्ति के लिए त्रिकाल व त्रिलोक में उन असत्य वचनों का त्याग करना चाहिए।

विसमट्ठिदीए वि सय, वदेज्जा जिणवयणाणुसारेणं।
सवरहिदकारगं मिद-पिय कम्मक्खयस्स जोगी।।5।।

योगीजन कर्मों के क्षय के लिए विषम स्थिति में भी जिनवचनानुसार स्वपर हितकारक, मित व प्रिय वचन बोलते हैं।

अचौर्य महाव्रत व चिंतन

आणं विणा ण गहणं, चेयणाचेयणवत्थूण पराण।
णवकोडीए कया वि, अचोरिय-महव्वदं णेयं।।6।।

स्वामी की आज्ञा के बिना दूसरों की चेतन व अचेतन वस्तुओं का नवकोटि से ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत जानना चाहिए।

परवत्थुं परभावं, पदं जसं पर-सिस्सा सिस्साओ।
णो गहेज्ज कसायेण, चिंतेज्जा बारसणुवेक्खं।।7।।

कषायपूर्वक परवस्तु, परभाव, पद, यश, दूसरों के शिष्य व शिष्याओं को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए एवं द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य महाव्रत व चिंतन

चउविह-इत्थीओ पडि, अबंभभाव-चयणं णवकोडीइ।
बंभचेर-महव्वदं, तिलोयपुज्जं मोक्खहेदू॥8॥

नवकोटिपूर्वक चार प्रकार की स्त्रियों (तिर्यंचनी, मनुष्यिनी, देवी व काठ की स्त्री) के प्रति अब्रह्म भाव का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत जानना चाहिए। यह ब्रह्मचर्य महाव्रत तीनों लोकों में पूज्य व मोक्ष का हेतु है।

कायस्स कुचेट्ठं तह, रायवड्ढगवयणं मणवियारं।
पजहिय णवकोडीए, चिंतेज्ज सुद्धप्पसरूवं॥9॥

नवकोटिपूर्वक काय की कुचेष्टा, रागवर्द्धक वचन, चित्त के विकार का त्याग कर शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन करना चाहिए।

अपरिग्रह महाव्रत व चिंतन

चेयण-मचेयणं बहिरंतरं इट्ठमणिट्ठं संगं च।
उज्झिय णवकोडीए, असंगमहव्वदं पालेदि॥10॥

योगी नवकोटिपूर्वक चेतन-अचेतन परिग्रह, बाह्य व अंतरंग परिग्रह, इष्ट व अनिष्ट परिग्रह का त्यागकर अपरिग्रह महाव्रत का पालन करते हैं।

सगसुद्धप्पसरूवे, वसिदुं तच्चचिंतणं जवं तवं।
झाणं करेज्ज पस्सिय, परवत्थुं ण रायं दोसं॥11॥

योगी को निज शुद्धात्म स्वरूप में निवास करने के लिए तत्त्वचिंतन, जप, तप व ध्यान करना चाहिए एवं परवस्तु को देखकर राग व द्वेष नहीं करना चाहिए।

ईर्या समिति व चिंतन

चउकरभूमिं पस्सिय, जिणगुरुतित्थवंदणाय जदणेण।
अक्कपयासे गमणं, इरियासमिदी मुणेदव्वा॥12॥

जिनेन्द्र प्रभु, निर्ग्रन्थ गुरु व जिनतीर्थों की वंदना के लिए चार हाथ भूमि को देखकर सूर्य के प्रकाश में यत्नपूर्वक गमन करना ईर्यासमिति जाननी चाहिए।

सगरूवम्मि ठवंतो, सवरहिदरद-किवालू पुण्णत्थं।
करेज्जा गमणागमण-पवत्तिं च कम्मक्खयेदुं॥13॥

स्वपर हित में रत, कृपालु, साधुओं को पुण्य हेतु निजात्म स्वरूप में स्थित रहते हुए कर्मक्षय के लिए गमनागमन की प्रवृत्ति करना चाहिए।

भाषा समिति व चिंतन

सवरहिदाय सुदाणुअ-हिद-मिद-पिय-वयणाणं भासणं च।
भासासमिदी य मोक्ख-हेदू मणसंति-विसुद्धीण॥14॥

स्वपर हित के लिए श्रुत के अनुसार, हित-मित-प्रिय वचनों का बोलना भाषा समिति है। वह भाषा समिति मन की शांति, विशुद्धि व मोक्ष का हेतु है।

सावज्जवयणेगं वि, णेव वदमु णिंदं परुस-मकत्थं।
चिंतेज्ज सया जोगी, सया सव्वत्थ सुदाणुगं च॥15॥

"मैं सावद्य, निंद्य, कठोर वा नहीं कहने योग्य एक भी वचन ना बोलूँ। मैं सदैव सर्वत्र श्रुत के अनुसार ही बोलूँ, योगी को सदैव ऐसा चिंतन करना चाहिए।

एषणा समिति व चिंतन

बत्तीस-अंतरायं, बायालदोसं परिहरित्तु दिणे।
सुद्धाहार-गहणं दु, सुयालम्मि एसणा-समिदी॥16॥

बत्तीस अंतराय व बयालीस दोषों का परिहार करके दिन में, सुकाल में शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

कुलीण-गिहत्थेहिं, पदत्ताहारं पइडि-अणुऊलं।
णिरवज्जं गहेज्ज तव-संजम-सज्झाय-विड्ढीए॥17॥

योगीजनों को तप, संयम व स्वाध्याय की वृद्धि के लिए कुलीन गृहस्थों के द्वारा दिया गया प्रकृति के अनुकूल, निरवद्य आहार ही ग्रहण करना चाहिए।

पमादं विकहादिं ण, करेज्ज कसायपोसण-मारंभं।
उज्झिय समणो गहेज्ज, आहारं मणित्तु अमियं व॥18॥

योगी को प्रमाद, विकथा व कषायों का पोषण नहीं करना चाहिए। श्रमण को आरंभ का त्यागकर आहार को अमृत के समान मानकर ग्रहण करना चाहिए।

सावयो णेव भिच्चो, समत्तेण सय णिरवज्जाहारं।
भत्तिजुदसावगेहिं, ओग्गहेज्ज विणा कोहादिं॥19॥

श्रावक भृत्य वा सेवक नहीं है अतः भक्ति युक्त श्रावकों से क्रोध इत्यादि के बिना समत्व भाव के साथ सदैव निरवद्य, (निर्दोष) आहार ग्रहण करना चाहिए।

सावयदत्ताहारं, गहिय रिणिओ जदि दुरुवओगं तो।
कुणदि आवसियं ण तं, पालेदि कुणदु सदुवओगं॥20॥

श्रावक द्वारा दिए गए आहार को ग्रहण कर साधु यदि उसका दुरुपयोग करता है, आवश्यकों का पालन नहीं करता तो वह ऋणी हो जाता है अतः उसका सदुपयोग करना चाहिए।

आदान-निक्षेपण समिति व चिंतन

पिच्छि-कमंडलु-पोत्थअ-संथारासणादीणि सोहित्ता।
गहणं णिक्खेवणं च, आदाणणिक्खेवण-समिदी॥21॥

पिच्छी, कमंडलु, पुस्तक, संस्तर, आसन आदि का शोधन कर ग्रहण करना व रखना आदान-निक्षेपण समिति कहलाती है।

हरिय पमादं जीवा, रक्खिदुं विसुद्धीए वत्थूणं।
गहणे णिक्खेवणे य, जागरिओ वद-विसुद्धीए॥22॥

जीवों की रक्षा के लिए और व्रत की विशुद्धि के लिए प्रमाद को दूरकर वस्तुओं के ग्रहण करने व रखने में जागृत रहना चाहिए।

प्रतिष्ठापन समिति व चिंतन

उच्चार-पस्सवणाण, खेल-सिंहाणादीण विसज्जणं।
णिज्जंतुग-ठाणम्मि दु, पदिट्ठावण-समिदी णेया॥23॥

मल, मूत्र, कफ, नासिका मल आदि का विसर्जन निर्जंतुक (जंतु आदि से रहित) स्थान पर करना प्रतिष्ठापन समिति जाननी चाहिए।

पस्सिय फासुग-भूमिं, विणा वेगणिरोह-मारोग्गत्थं।
मलं उज्झेज्जा जीवरक्खणभावेणं दयाए।।24।।

जीवरक्षा के भाव से दयापूर्वक प्रासुक भूमि को देखकर मलादि के वेग को रोके बिना, आरोग्य हेतु मल का त्याग करना चाहिए।

शुद्ध स्वभाव की भावना

गमणागमणं वदणं, अदणं वत्थु-गहण-मुच्चारणं च।
णो मे सहावो होज्ज, हं सुद्धो विहावं हरित्तु।।25।।

गमनागमन करना, बोलना, भोजन करना, वस्तु ग्रहण करना, मल त्याग करना, ये मेरा स्वभाव नहीं है। हे प्रभु! विभाव को दूरकर मैं शुद्ध होऊँ।

जावदु पमत्तो अहं, तावदु किरियं कुणिदुं बद्धो हं।
तं पमादं वज्जित्तु, सगसुद्धसहावं चिंतेमि।।26।।

जब तक मैं प्रमत्त दशा में हूँ तब तक मैं क्रिया करने के लिए बद्ध हूँ। उस प्रमाद का त्याग कर मैं अपने शुद्ध स्वभाव का चिंतन करता हूँ।

णेव जीवो सक्केदि, विणा सगसुद्धसहावचिंतणेण।
सिद्ध-सुद्ध-परमप्पा, होदुं तच्चणाणेणं वा।।27।।

तत्त्व चिंतन अथवा अपने शुद्ध स्वभाव के चिंतन के बिना जीव सिद्ध-शुद्ध परमात्मा होने में समर्थ नहीं होता।

स्पर्शनेन्द्रिय जय व चिंतन

लहु-गुरू कक्कस-मिदू, लुक्खो णिद्धं तह उण्हो सीदो।
इमेसु अट्ठ-विसयेसु, समत्तं फासिंदिय-जयो य।।28।।

हल्का-भारी, कड़क-नरम, रूक्ष-स्निग्ध तथा ऊष्ण-शीत, इन आठ विषयों में समता भाव रखना स्पर्शनेन्द्रिय-जय है।

फासिंदियस्स इट्ठाणिट्ठ-अत्थेसु समत्तं धरंतो।
विसुद्धीइ पुरिसट्ठं, करेज्ज हु फासिदुं सगप्पं॥29॥

स्पर्शनेन्द्रिय के इष्टानिष्ट पदार्थों में समत्व भाव धारण करते हुए अपनी आत्मा को स्पर्श करने के लिए विशुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करना चाहिए।

पोग्गल-सीलं दु णत्थि, कयावि कत्थवि किंचि वि सीलं मे।
फासं पोग्गलस्स हं, स-संवेदणजोग्गामुत्तो॥30॥

स्पर्श पुद्गल का स्वभाव है। पुद्गल का स्वभाव कदापि, कहीं भी, किंचित् भी मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अमूर्त (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित) व स्वसंवेदन योग्य हूँ।

रसनेन्द्रियजय व चिंतन

रसणिंदियस्स दु मिट्ठ-तिक्खंब-कडुअ-खार-विसयेसुं।
समत्तं दु रसणिंदिय-जओ इग-मूलगुणो मुणिस्स॥31॥

रसनेन्द्रिय के मीठा, तीखा, खट्टा, कड़वा, चरपरा-इन विषयों में समता भाव रखना मुनिराज का रसनेन्द्रिय जय नामक एक मूलगुण है।

वसगं होच्चा भमिदो, रसणिंदियस्स संसारम्मि मए।
भुंजिदं घोरदुहं ण, लहिदं किंचिवि जहत्थसुहं॥32॥

रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर मेरे द्वारा संसार में अनादिकाल से भ्रमण किया गया। मैंने घोर दुःखों को भोगा, मैंने किंचित् भी यथार्थ सुख प्राप्त नहीं किया।

अविजिदरसणक्खं बहुदुहमूलं भववड्ढग-महबीयं।
तं अणुभवेमि अप्परसं आमुयिय पोग्गलियरसं॥33॥

रसनेन्द्रिय को नहीं जीतना अर्थात् अविजित रसनेन्द्रिय बहुत दु:खों का मूल एवं संसार की वृद्धि करने वाला महाबीज है। अत: पौद्गलिक रस का त्यागकर मैं आत्मरस का अनुभव करता हूँ।

मिट्ठिट्ठभोयणे पोग्गलियत्थेसु लोलिक्कस्स खणस्स।
किं कुव्वसि अइरायं, घाडीइ अह सव्वा मिऊव्व॥34॥

क्षणभर की लोलुपता के लिए मिष्ट व इष्ट भोजन में, पौद्गलिक पदार्थों में अत्यंत राग क्यों करते हो? अरे! घाटी नीचे सब माटी है। अर्थात् स्वाद मात्र तभी तक होता है जब तक खाद्य पदार्थ जिह्वा पर है उसके पश्चात् सब एक सा ही होता है।

घ्राणेन्द्रियजय व चिंतन

जगे विज्जंत-पोग्गल-पदत्थाण दुविह-गंधेसुं णेव।
कुव्वदि रायदोसं, घाणिंदिय-जयो खलु जो सो॥35॥

इस जगत् में विद्यमान पुद्गल पदार्थों की दोनों प्रकार की गंधों में जो रागद्वेष नहीं करता वह घ्राणेन्द्रिय विजयी कहलाता है।

णो मम अप्प-सहावो, रच्चणं इंदिय-विसयेसु कया वि।
णिव्विअप्प-झाणेणं, चिम्मयप्पगंधं गहमि तं॥36॥

इंद्रिय विषयों में रंजायमान होना कदापि मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अत: निर्विकल्प ध्यान के द्वारा मैं चिन्मय आत्मा की गंध ग्रहण करता हूँ।

सज्झायम्मि बाहगो, विअप्पो सुगंध-दुग्गंधाणं पि।
णिव्विअप्पो सहावो, मे तं परमझाणरदो हं।।37।।

सुगंध व दुर्गंध का विकल्प भी स्वाध्याय में बाधक है। मेरा स्वभाव निर्विकल्प है। अतः मैं परम ध्यान में रत होता हूँ।

चक्षुइंद्रियजय व चिंतन

ण कुणदि रायं दोसं, कण्ह-सिद-हरिद-णील-रत्तेसुं च।
णेत्तक्ख-जई जो सो, असंखेज्जुत्तरवण्णेसुं।।38।।

जो कृष्ण, श्वेत, हरित, नील व लाल वर्ण अथवा असंख्यात उत्तर वर्णों में राग-द्वेष नहीं करता, वह चक्षु इंद्रिय विजयी कहलाता है।

जावदु णेत्तिंदियं दु, तावदु पस्सेमि अणंत-पदत्था।
ताण पस्सणं णो मे, सहावो अप्पदंसणं खलु।।39।।

जब तक चक्षु इंद्रिय है तब तक मैं अनंत पदार्थों को देखता हूँ। उनको देखना मेरा स्वभाव नहीं है, आत्म दर्शन ही मेरा स्वभाव है।

सव्वदव्वाणि ताणं, सव्व-गुण-पज्जाया ववहारेण।
णिच्छयेण सगप्पं हि, केवली जाणंति पस्संति।।40।।

केवली भगवान् व्यवहार से सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व गुण-पर्यायों को जानते व देखते हैं एवं निश्चय से अपनी आत्मा को ही जानते व देखते हैं।

अप्पदव्वं मुयित्ता, अण्णदव्व-जाणगो ववहारम्मि।
णिमग्गोत्थि णिव्विअप्प-झाणी णिच्छयणयासिदो दु।।41।।

जो आत्मद्रव्य को छोड़कर अन्य द्रव्यों को जानता है वह व्यवहार में निमग्न है। निर्विकल्प ध्यानी निश्चय नय के आश्रित है।

कर्णेन्द्रिय जय व चिंतन

सडज-उसह-गंधारा मज्झिम-पंचम-धेवद-णिसादा य।
सोदिंदियस्स विसया, इमा सत्त-सरा दु मूलम्मि।।42।।
उत्तरविसया दु असंखेज्जलोयपमाणं तेसुं णेव।
रायं दोसं कुव्वदि, सोदिंदिय-जयो खलु जो सो।।43।।
(जुम्मं)

षडज, वृषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद, ये मूल में सात स्वर कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। उस कर्णेन्द्रिय के उत्तर विषय असंख्यात लोक प्रमाण हैं। उन विषयों में जो राग-द्वेष नहीं करते, वह श्रोत्रेन्द्रिय जयी कहलाते हैं।

जगे विज्जंत-सद्दा-सद्दरूवझुणी सव्वसद्दा मे।
सहावो ण पोग्गलिया, ण करेज्ज रायं दोसं तं।।44।।

जग में विद्यमान शब्द वा अशब्द रूप ध्वनि एवं सभी शब्द पौद्गलिक हैं। यह पुद्गल मेरा स्वभाव नहीं है। अतः उनमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

णिंद-पसंस-सद्देसु, उवसग्गरूवेसु वंदणादीण।
हस्सविसादभावं दु, णेव करेज्ज कम्मक्खयिदुं।।45।।

उपसर्ग रूप निंदा व वंदनादि के प्रशंस्य शब्दों में कर्म क्षय के लिए हर्ष व विषाद भाव नहीं करना चाहिए।

इंद्रियविषय रत की दुर्गति

फास-रसण-घाण-चक्खु-सोदिंदियाण विसयेसुं कमसो।
गय-झस-भमर-सलह-मिग-रदा लहंते दुहं मिच्चुं।।46।।

स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में हाथी, रसनेंद्रिय विषय में मछली, घ्राणेन्द्रिय विषय में भ्रमर, चक्षु इंद्रिय विषय में पतंगा एवं कर्णेन्द्रिय विषय में हरिण रत होते हैं। वे सभी जीव दु:ख एवं मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

पंचिंदिय-विसयेसुं, जदि परिलीदे हु को वि पुरिसो तो।
कहं ण बंधदि कम्मं, पावगतत्त-अयसपिंडोव्व।।47।।

यदि पंचेन्द्रिय के विषयों में कोई भी पुरुष लीन होता है तो अग्नि तप्त लौह पिंड के समान कर्म का बंध कैसे नहीं करता अर्थात् अवश्य करता है।

विषयों में माध्यस्थ भाव

विसयेसुं हु रदि-अरदि-करणं सया कम्मबंधणिमित्तं।
तं धारेमि मज्झत्थ-भावं समत्त-पगासणाइ।।48।।

विषयों में रति व अरति करना कर्म बंध का निमित्त है। समत्व भाव के प्रकटीकरण के लिए मैं उनमें माध्यस्थ भाव धारण करता हूँ।

समता व चिंतन

तियालिय-सव्वत्थेसु, विज्जंत-चेयणाचेयणेसुं च।
मज्झत्थभावधरणं, सक्खिभावसंजुदसमत्तं।।49।।

लोक में विद्यमान त्रैकालिक चेतन-अचेतन सभी पदार्थों में माध्यस्थ भाव धारण करना साक्षी भाव से युक्त समता भाव है।

दिढकवाडोव्व हु कम्म-संवरस्स कम्ममोअग-समत्तं।
मुत्तीइ सहीव सया, धारेमि सव्वदा सव्वत्थ।।50।।

समत्व भाव कर्म का विमोचन करने वाला है। यह समता कर्मों के संवर के लिए सदा दृढ़ कपाट के समान एवं मुक्ति की सखी के समान है। मैं सदा सर्वत्र उस समत्व भाव को धारण करता हूँ।

जीवे मरणे लाहालाहे इट्ठाणिट्ठ-संजोगम्मि।
विजोगे सुहे दुहे य, मज्झत्थभावो समत्तं दु।।51।।

जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट, संयोग-वियोग, सुख व दु:ख में माध्यस्थ भाव ही समता है।

जावदु जोगी पस्सदि, इट्ठणिट्ठ-चेयणाचेयणत्था।
तं पस्सेमि सगप्पं, तावदु ण संभवो समत्तं।।52।।

जब तक योगी इष्ट- अनिष्ट वा चेतन-अचेतन पदार्थों को देखता है तब तक समत्व भाव संभव नहीं है। इसलिए मैं स्वात्मा को देखता हूँ।

कहण-मइसुलहं वरं, णो एगभावेण सुह-दुह-सहणं।
अप्पगुणं पागडिदुं, सहेज्जा अहं समत्तेणं।।53।।

यद्यपि कहना बहुत आसान है किन्तु एक ही भाव से सुख-दु:ख सहन करना आसान नहीं है। आत्म गुणों के प्रकटीकरण के लिए मैं समता भाव से सहन करता हूँ।

भयवदरूवं दु मुत्तिबीअं व सग्गसेणीव समत्तं।
समत्तभावजुदजदी, पच्चक्खमोक्खमग्गोव्व खलु।।54।।

समत्व भाव भगवद् रूप है, वह समत्व भाव मुक्ति का बीज व स्वर्ग के सोपान के समान है। समता भाव से युक्त यति निश्चय से प्रत्यक्ष मोक्षमार्ग के समान है।

तिव्वपावकम्मुदये, जोगी धरेज्जा समत्तभावं दु।
एगकम्मफलं एगवारं भुंजेज्ज ण अण्णस्स।।55।।

तीव्र पापकर्म के उदय में योगी समत्व भाव धारण करते हैं। अहो! जीव अपने द्वारा बाँधे गए एक कर्म का फल एक ही बार भोगता है, अन्य किसी के कर्म का फल वह नहीं भोगता।

समत्तभावधारणं, अइदुल्लहं तिव्वपावोदये वि।
जह तह अइपुण्णुदये, णिद्धमट्टियाइ रीअणं व।।56।।

जिस प्रकार अत्यंत पापकर्म के उदय में समत्व भाव धारण करना दुर्लभ होता है उसी प्रकार पुण्य के उदय में भी समत्व भाव धारण करना चिकनी मिट्टी में चलने के समान अति दुर्लभ है।

समत्तं वड्ढदि तस्स, फलं चिंतित्तु जो वि महापुरिसो।
एगत्तभावणाए, अइर मुत्तिपदं लहेदि सो॥57॥

जो भी महापुरुष एकत्व भावना से समत्व भाव के फल का चिंतन कर समत्व भाव को वृद्धिंगत करते हैं, वे शीघ्र मुक्ति पद को प्राप्त करते हैं।

रस-रूव-गंधहीणो, अवत्तव्वो चेयणारूवो हं।
तच्चचिंतणेण विणा, णो समत्तं कम्मक्खओ वि॥58॥

मैं रस, रूप व गंध से हीन, अवक्तव्य व चेतना रूप हूँ। तत्त्वचिंतन के बिना समत्व भाव व कर्म का क्षय भी नहीं हो सकता।

वंदना व चिंतन

सिरिजिणधम्म-पवट्टग-उसहाइ-वीरंत-तित्थयराणं।
गुणेसु तिव्वणुरायो, वंदणा छिंदेदुं कम्मं॥59॥

कर्मों के नाश के लिए जिनधर्म प्रवर्तक वृषभनाथ आदि से श्री महावीर स्वामी तक सभी तीर्थंकरों के गुणों में तीव्रानुराग वंदना कहलाती है।

लहिदुं सगप्पणंदं, जिणवंदणं सया करेज्ज जोगी।
दंदविणासगं सील-पयासगं आणंदखंधं॥60॥

जिनेन्द्र प्रभु की वंदना द्वंदनाशक, शीलप्रकाशक व आनंद स्कंध है। योगीजन ऐसी जिनवंदना को स्वात्मानंद की प्राप्ति के लिए सदैव करते हैं।

लोयसिहरे विज्जंत-मुत्ता जे वि जिणवंदणाए ते।
कंखेमि भो जिणवरो! वंदण-वंदणीय-भावं च॥61॥

लोक के शिखर पर जो भी मुक्त जीव विद्यमान हैं वे सभी जिनवंदना से ही मुक्त-सिद्ध हुए हैं। हे जिनवर! मैं वंदन व वंदनीय भाव की आकांक्षा करता हूँ।

स्तुति व चिंतन

तित्थयरेग-गुणेसुं, करणं परमपीदिजुदभत्तीए।
सुपुण्णवड्ढगा थुदी, णिमित्तं खलु कम्मक्खयस्स॥62॥

एक तीर्थंकर के गुणों में परम प्रीति युक्त भक्ति करना सुपुण्यवर्द्धक स्तुति है। यह स्तुति निश्चय से कर्मक्षय का निमित्त है।

तित्थयरोव्व सरूवो, मे भावणा सवर-कल्लाणत्थं।
वड्ढदु मे चित्ते सय, हे णाहो! होज्ज थुदि-भावो॥63॥

मेरा स्वरूप तीर्थंकर देव के समान है। मेरे चित्त में सदैव स्वपर कल्याण की भावना वृद्धिगत होती है। हे नाथ! स्तुति का भाव मेरे चित्त में सदैव रहे।

कस्स वि णिंदा हेदू, पावबंधणस्स पुण्णणासगस्स।
तं णिंद-मुज्झिय थुदिं, कुणमु सय हविदुं थुदिजोग्गं॥64॥

किसी की भी निंदा पापबंध व पुण्य नाश का कारण होती है। अतः स्तुति योग्य (स्तुत्य) होने के लिए निंदा का त्यागकर मैं परमेष्ठी की स्तुति करता हूँ।

प्रतिक्रमण व चिंतन

मूलुत्तरगुणेसु उप्पण्ण-सव्वदोसाणप्पणिंदाइ।
गरहाइ गुरुसक्खीइ, आलोयणं पडिक्कमणं दु॥65॥

गुरु की साक्षी में आत्मनिंदा व गर्हापूर्वक मूलगुण व उत्तरगुणों में उत्पन्न सभी दोषों की आलोचना करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

पुव्वदोसा खालिदुं, सगदोसणिवेदणं सुगुरुहुत्ते।
भविस्से अकरणस्स दु, ताण पदिण्णा पडिक्कमणं॥66॥

पूर्व दोषों के प्रक्षालन के लिए गुरु के सम्मुख अपने दोषों का निवेदन करना एवं भविष्य में उनके नहीं करने की प्रतिज्ञा प्रतिक्रमण है।

पुव्वमग्गे मुंचिदं, रयणाइबहुमुल्लधणं गहेदुं।
जाण पच्छिमगमणं व, दोसहारगं पडिक्कमणं॥67॥

पूर्व मार्ग में छूटे रत्नादि बहुमूल्य धन को ग्रहण करने के लिए पीछे जाने के समान, दोष हारक प्रतिक्रमण जानना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार पीछे मार्ग में छूटे हुए रत्नादि बहुमूल्य धन को ग्रहण करने व्यक्ति पीछे जाता है, उसी प्रकार कषाय, प्रमाद वा अज्ञान के कारण अपनी विशुद्धि से च्युत मुनिराज का पीछे लौटकर पुनः अपनी विशुद्धि में स्थित होना दोष-हारक प्रतिक्रमण है।

उवाणयाहिं जह तह, चरणाण रक्खा कंडगादीदो।
सेट्ठ-पडिक्कमणेणं, सुकल्लाणकारग-चरणस्स॥68॥

जिस प्रकार पादत्राणों से कंटक आदि से चरणों (पैरों) की रक्षा होती है उसी प्रकार श्रेष्ठ प्रतिक्रमण से कल्याण-कारक चरण अर्थात् आचरण-चरित्र की रक्षा होती है।

पडिक्कमणेणं विणा, सिवमग्गे गमणं संभवो णेव।
तं वियप्पवत्थाए, करेज्ज सोहिदुं अप्पवदं॥69॥

प्रतिक्रमण के बिना मोक्षमार्ग पर गमन संभव नहीं है। अतः विकल्प अवस्था में आत्मव्रतों के शोधन के लिए प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

जह सिरत्ताणत्थसत्थेहि विणा सत्तुं णिक्कंदेदुं।
ण समत्थो सूरो तह, पडिक्कमणेण विणा जोगी॥70॥

जिस प्रकार एक शूरवीर टोप, अस्त्र-शस्त्रों के बिना शत्रुओं का नाश करने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार प्रतिक्रमण के बिना योगी कर्म शत्रुओं के नाश में समर्थ नहीं होता।

प्रत्याख्यान व चिंतन

दोसाण भावियाले, मालिण्णादो णियवद-रक्खाए।
पच्चक्खाणं णेयं, सावज्जाइ-णिल्लुंछणं दु॥71॥

भविष्य में दोषों के मालिन्य से अपने व्रतों की रक्षा के लिए सावद्यादि का त्याग करना प्रत्याख्यान जानना चाहिए।

कम्मक्खयिदुं णियमा, पुव्वब्भासो खलु पच्चक्खाणं।
चेयणाए रक्खगं, जीवप्पसत्ति-विआसगं च॥72॥

कर्म क्षय के लिए नियमपूर्वक पूर्वाभ्यास प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान चेतना का रक्षक और जीवात्म शक्ति का विकासक है।

गुणो धम्मो सहावो, कत्तव्वं पच्चक्खाणं मज्झं।
सुव्वद-सुईए जाण, पुव्वपक्खालणं मग्गस्स॥73॥

प्रत्याख्यान मेरा गुण, धर्म, स्वभाव व कर्त्तव्य है। सम्यक् व्रतों की पवित्रता के लिए मार्ग का पूर्व में ही प्रक्षालन करना प्रत्याख्यान जानना चाहिए।

कायोत्सर्ग व चिंतन

ममत्त-आमिल्लणं दु, सिवमग्गे गच्छमाण-धम्मीहिं।
काउस्सग्गो सुगुणो, कम्मक्खयिदुं मुक्खो ताण॥74॥

मोक्षमार्ग पर चलते हुए धर्मियों के द्वारा ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग उन श्रमणों के कर्मक्षय के लिए मुख्य व श्रेष्ठ गुण है।

रायं दोसं जोगी, तह णिल्लुंछदे काउस्सग्गम्मि।
जह सुभडो रणखेत्ते, ममत्तं सदेह-जणादीदु॥75॥

जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र में एक सुभट अपने शरीर व स्वजनों आदि से ममत्व का त्याग कर देता है उसी प्रकार योगी कायोत्सर्ग में राग व द्वेष का त्याग कर देता है।

को वि आसण्णभव्वो काउस्सग्गम्मि पवत्तमाणो य।
झामिदुं कम्मविविणं समत्थो दु सगविसुद्धीए॥76॥

कायोत्सर्ग में प्रवर्तमान कोई भी आसन्न भव्य जीव निज विशुद्धिपूर्वक कर्म रूपी वन को जलाने में समर्थ होता है।

अप्पं रक्खेदुं खलु, काउस्सग्गो दु महावाहिणीव।
काउस्सग्गेण विणा, णो सक्कदि कम्मक्खयेदुं॥77॥

आत्मा की रक्षा के लिए कायोत्सर्ग महासैन्य है। कायोत्सर्ग के बिना जीव कर्मक्षय करने में समर्थ नहीं होता।

अचेलकत्व गुण व चिंतन

मण-वय-कायेहिं किद-कारिदाणुमोदेहि सव्वविहाण।
वत्थ-णिहाणं जावज्जीव-मचेलगत्तं मुणीण॥78॥

मन, वचन, काय व कृत-कारित-अनुमोदना से सभी प्रकार के वस्त्रों का जीवनभर के लिए त्याग करना मुनियों का अचेलकत्व गुण है।

सुंदरिमा-विड्ढीए, स-वियारं थयिदुं णरा वत्थाणि।
धरंति णो दियंबरो, विरत्त-णिव्विआरत्तादो॥79॥

सौंदर्य की वृद्धि के लिए एवं अपने विकारों को आवृत करने के लिए मनुष्य वस्त्र धारण करते हैं। किन्तु संसार-शरीर-भोगों से विरक्त व निर्विकारी होने से दिगंबर संत वस्त्र धारण नहीं करते हैं।

जहाजाद-दियंबरो, हं बालोव्व आणंद-संजुत्तो।
वत्थाइ-धारणं मे, सहावो णो कया वि जम्हा॥80॥

मैं बालक के समान यथाजात दिगंबर व आनंद से युक्त हूँ। क्योंकि वस्त्रादि का धारण करना कदापि मेरा स्वभाव नहीं है।

संभवो पइडि-णियडे, ठाइत्ता लहणं सग-पइडीए।
दियंबरा णिल्लेवा, खं व पइडीव णिरावरणा।।81।।

प्रकृति के निकट रहकर अपनी प्रकृति को प्राप्त करना संभव है। दिगंबर मुनि आकाश के समान निर्लेप व प्रकृति के समान आवरण से रहित होते हैं।

एकभुक्ति गुण व चिंतन

णिरवज्ज-फासुगं वर-गेहेहि दत्ताहारं एक्कसि य।
दिणे गहंते समणा, इगभुत्ती-मूलगुणो ताण।।82।।

श्रेष्ठ गृहस्थों के द्वारा दिए गए निरवद्य व प्रासुक आहार को श्रमण दिन में एक ही बार ग्रहण करते हैं, वह उनका एकभुक्ति नामक मूलगुण है।

तित्थयरादी गहंति, फासुगमाहारं वर-सावगेहि।
देहट्ठिदी चिरं णो, संभवो आहारेण विणा।।83।।

तीर्थंकरादि मुनि भी श्रेष्ठ श्रावकों से प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं क्योंकि आहार के बिना देह की स्थिति अधिक समय तक संभव नहीं है।

जहवि आहार-गहणं, ण मे सहावो छ-कारणेहि तहवि।
गहमि सुद्धाहारं पि, तदा णिवत्तंतो असुहादु।।84।।

यद्यपि आहार ग्रहण करना मेरा स्वभाव नहीं है तथापि उस आहार के समय भी अशुभ से निवर्तन करता हुआ मैं छः कारणों से (क्षुधा वेदना नाश के लिए, वैय्यावृत्ति के लिए, छः आवश्यकों के पालन के लिए, संयम पालन के लिए, प्राणरक्षा के लिए एवं दस धर्मादि के चिंतन के लिए) आहार ग्रहण करता हूँ।

स्थितिभोजन गुण व चिंतन

जावदु जंघाबलेण, उट्ठित्तु सक्को गहिदु-माहारं।
तावदु आहार-गहण-मध उज्झणं ठिदि-भोयणं दु॥85॥

जब तक मुनिराज जंघाबल से खड़े होकर आहार ग्रहण करने में समर्थ हैं तब तक ही आहार ग्रहण करना अनंतर त्याग करना, श्रमणों का स्थितिभोजन नामक मूलगुण है।

संजमाइ-विड्ढीए, उहयवत्थासु गहेमि आहारं।
णिच्छयाहारो दु, सगसुद्धाणुभूदिरूवझाणं॥86॥

संयमादि की वृद्धि के लिए मैं दोनों ही अवस्थाओं में आहार ग्रहण करता हूँ। निज शुद्धानुभूति रूप ध्यान निश्चय आहार है। [एवं जल, अन्नादि का ग्रहण व्यवहार आहार है।]

स्थितिशयन गुण व चिंतन

भूमीए सिलातले, फलगे संथरे खेदणिवत्तीइ।
सयणं एयपक्खेण, ठिदिसयणं गुणो जोगीणं॥87॥

भूमि, शिलातल, तख्त, संस्तर पर खेद (श्रमादि) की निवृत्ति के लिए एक कर्वट से शयन करना योगियों का स्थितिशयन नामक मूलगुण है।

सरीरस्स पसम-खेद-रोग-किलेसाइ-णिवत्तीए तह।
समणा अप्पयालस्स, सयंति परिणामविसुद्धीइ॥88॥

श्रमणराज शरीर के श्रम, खेद, रोग व क्लेशादि की

निवृत्ति के लिए ही परिणामों की विशुद्धिपूर्वक अल्पकाल के लिए शयन करते हैं।

भो जिणदेवो! तवाइ-सत्तीए होमु णिद्दा-जयी हं।
अहण्णिसं सज्झाणं, कुणेमु पउमासणादीहिं॥89॥

हे जिनेंद्र देव! तप आदि की शक्ति से मैं निद्रा-विजयी होऊँ। मैं निरंतर पद्मासनादि से स्वाध्याय करूँ।

मए णो कयावि होज्ज, सयणम्मि अवि हिंसाइ-सावज्जं।
पस्समु णो दुस्सिविणं, णो होदु देहस्स कुचेट्ठा॥90॥

हे प्रभु! मेरे द्वारा निद्रा में भी कदापि हिंसादि सावद्य न हो। मैं कभी दु:स्वप्न न देखूँ और ना ही कभी देह की कुचेष्टा हो।

होज्ज विसुद्ध-तिजोगा, सयणे वि मम कसायमंदत्तादु।
कम्मणिज्जराइ पुण्ण-कारणं होदु मम सयणं वि॥91॥

कषायों के मंद होने से निद्रा में भी मेरे तीनों योग (मन, वचन व काय) विशुद्ध रहें। मेरा शयन भी कर्म निर्जरा व पुण्य का कारण होवे।

अस्नान गुण व चिंतन

सहावादो सरीरं, असुई जल्ल-मल-सेदेहि तहावि।
तस्स सहावं जाणिय, ण अब्भुत्तदि जोगी कया वि॥92॥

जल्ल (मैल), मल व पसीना आदि से शरीर स्वभावत: अपवित्र है। तथापि उस देह का स्वभाव जानकर योगी कदापि स्नान नहीं करते।

सम-संतोसजलेणं, पक्खालेमि सगचेयणं सददं।
वा ण्हामि संजम-सरे, तव-णदीइ झाणसायरम्मि॥93॥

कषायों के निग्रह रूप शम व संतोष के जल से मैं निरंतर अपनी चेतना का प्रक्षालन करता हूँ। अथवा संयम के सरोवर, तप की नदी व ध्यान के समुद्र में मैं स्नान करता हूँ।

अदंतधावनगुण व चिंतन

संसारी णियदंता, घसंति कंतीए चिय पडिदिवसे।
णिरवइक्खा वरं णो, अदंतधवणं सु मूलगुणो॥94॥

संसारी जीव कांति के लिए प्रतिदिन अपने दाँतों को घिसता है, मांजता है। किन्तु निःस्पृह मुनिराज अपने दांतों को नहीं मांजते। यह उनका अदंतधावन नामक मूलगुण है।

जिणधम्मपहावणाइ मम जीवहिदस्स अप्पसंतीए।
भावणा ण देहकंति-विड्ढीए देह-पोसणस्स॥95॥

मेरी भावना देह कांति की वृद्धि या देह के पोषण की नहीं है। मेरी भावना समस्त जीवों के हित, जिनधर्म प्रभावना व आत्मशांति की है।

तव पसादेण सक्कमु, सवरहिदं करिदुं जिणदेवो भो!।
सु धम्मम्मि विज्जमाण-पवंचणं णिल्लूरिदं हं॥96॥

हे जिनेंद्र देव! आपकी कृपा से मैं स्व-पर का हित करने में एवं समीचीन धर्म में विद्यमान प्रपंच (छलादि) को निर्मूल करने में समर्थ होऊँ।

दंतो अत्थि तम्हा, दंत-धावणं ण विवेग-पदीगो।
हं विवित्तो हिदत्थी, दंत-मज्जणं अवहत्थेमि॥97॥

दाँत हड्डी होते हैं, अतः दाँतों का मांजना विवेक का प्रतीक नहीं है। मैं विवेकी व हितार्थी दंत मंजन का त्याग करता हूँ।

केशलोंच गुण व चिंतन

बे-ते-चउमासे वा उत्तम-मज्झम-जहण्ण-विहीए दु।
उववासेण सह मंसु-केस-लुंचणं च मूलगुणो॥98॥

उत्तम विधि से दो माह, मध्यम से तीन माह व जघन्य से चार माह में उपवास पूर्वक अपनी दाढ़ी-मूंछ व सिर के बालों का लोंच करना मुनियों का केशलोंच नामक मूलगुण है।

कुव्वंति केसलोअं सगसत्ति-वेरग्ग-परिक्खाए य।
समत्तं फुडिदुं मुणी, कत्तरी-आइ-उवेक्खाए॥99॥

अपनी शक्ति व वैराग्य की परीक्षा के लिए एवं कैंची आदि की उपेक्षा से समत्व भाव के प्रकटीकरण के लिए मुनिराज केशलोंच करते हैं।

भो तिलोयणाहो! हं, भावेमि कुव्वंतो केसलोअं।
केसलोअ-णिमित्तं दु, होज्ज मज्झ कम्मं खयेदुं॥100॥

हे तीन लोक के नाथ! केशलोंच करते हुए मैं भावना भाता हूँ कि यह केशलोंच मेरे कर्म क्षय के लिए निमित्त होवे।

पंचमुट्ठिं कुणेदुं, लोअं होमु खमो दु तित्थेसोव्व।
अणंतरं केवली य, णह-केस-विड्ढीए रहिदो॥101॥

हे प्रभु! तीर्थंकर जिनेंद्रदेव के समान मैं पंचमुष्टि केशलोंच करने में समर्थ होऊँ, अनंतर नख-केश की वृद्धि से रहित केवली होऊँ।

तित्थेसेहि पवट्टिद-णिव्वाणमग्गम्मि पवट्टेमि हं।
अहो! मज्झं सरिसो, तिलोएसुं पुण्णवंतो को?॥102॥

तीर्थंकरों के द्वारा प्रवर्तित मोक्षमार्ग पर मैं प्रवर्तन कर रहा हूँ। अहो! तीनों लोकों में मेरे समान पुण्यवान् और कौन हो सकता है? अर्थात् मोक्षमार्ग पर गमन करने वाला सर्वाधिक पुण्यात्मा समझना चाहिए।

चौंतीस उत्तर गुण

चउतीस-उत्तरगुणा, तित्थयरस्स अदिसयोव्व जोगीण।
परपुण्णणिमित्तं सग-कल्लाण-पच्चक्ख-हेदू य॥103॥

जैसे तीर्थंकर के चौंतीस अतिशय होते हैं वैसे ही योगियों के उत्तरगुण भी चौंतीस होते हैं। वे उत्तरगुण परपुण्य के निमित्त एवं स्वकल्याण के प्रत्यक्ष हेतु होते हैं।

बावीस-परिसहजओ, बारसतवो संवर-णिज्जराणं।
कमेणं मोक्ख-हेदू, सोसिदुं भवं मत्तंडोव्व॥104॥

बाईस परीषहजय व बारह तप ये 34 उत्तर गुण जानने चाहिए। ये क्रम से संवर, निर्जरा व मोक्ष के हेतु हैं। संसार रूपी सागर को सुखाने के लिए ये सूर्य के समान हैं।

तप का स्वरूप

इच्छाणिरोहो तवो, इंदियविजयो चित्तणिरोहो अवि।
कम्मकाणणं दहिदुं, सम्मतवो पचंड-अग्गीव॥105॥

इच्छाओं का निरोध, इंद्रियों पर विजय एवं चित्त निरोध को तप जानना चाहिए। कर्म रूपी वन को जलाने के लिए सम्यक् तप प्रचंड अग्नि के समान है।

तप के भेद

दुविह-तवो खओवसमसम्माइट्ठि-महव्वदीण तवो य।
खइय-सम्माइट्ठीण, खइय-सेणि-आरोहगाणं॥106॥

तप दो प्रकार का जानना चाहिए। प्रथम क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि महाव्रतियों का तप एवं द्वितीय क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले क्षायिक सम्यक्दृष्टि मुनिराजों का तप।

परंपराए दु मोक्ख-कारणं खओवसम-महव्वदीण।
खवगाण तवो णियमा, तादु भवादु हि मोक्ख-हेदू॥107॥

क्षयोपशम महाव्रतियों का तप परंपरा से मोक्ष का कारण है। जबकि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले क्षपकों का तप नियम से उसी भव से मोक्ष का हेतु होता है।

बहिरंतर-भेयादो, तवो बेविहो अण्णावेक्खाए।
अणसणादी बहिरा य, अंतरा पायच्छित्तादी॥108॥

अन्य अपेक्षा से बाह्य व अंतरंग के भेद से तप दो प्रकार का जानना चाहिए। अनशनादि (अनशन, ऊनोदर,

वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन व कायक्लेश) बाह्य तप हैं एवं प्रायश्चित्तादि (प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग व ध्यान) अंतरंग तप हैं।

बाह्य तप

बहिरंगतवं कयाइ, मिच्छाइट्ठी वि धरिदुं समत्थो।
बहिरिंदियेहिं दिट्ठि-गोयरो तं बहिरंगतवो॥109॥

मिथ्यादृष्टि भी कदाचित् बाह्य तप धारण करने में समर्थ होता है। क्योंकि यह तप बाह्य इंद्रियों के दृष्टिगोचर है इसलिए बहिरंग या बाह्यतप कहलाता है।

अनशन तप व चिंतन

उववासो दु चउव्विह-आहार-उज्झणं णवकोडीए।
तवो बहिरंग-पढमो, रोयविआरविहिणासगो य॥110॥

नवकोटि से चार प्रकार के आहार का त्याग उपवास कहलाता है। रोग, विकार व कर्मों को नाश करने वाला यह उपवास पहला बहिरंग तप है।

खज्ज-सज्ज-लेह-पेय-गहणं कयावि कस्सवि याले णो।
सस्सद-सुद्ध-सहावो, मे सिद्धोव्व अणसणरूवो॥111॥

खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय ग्रहण करना किसी भी काल में कदापि मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा शाश्वत शुद्ध स्वभाव अनशन रूप व सिद्धों के समान है।

ऊनोदर तप व चिंतन

जे के वि णो समत्था, अणसणं करिदुं हीणसत्तीए।
ते करेज्ज णूणुदरं, संवर-णिज्जराण सिवत्थं॥112॥

जो कोई भी शक्ति की हीनता होने से उपवास करने में समर्थ नहीं होते उन्हें संवर, निर्जरा व मोक्ष के लिए ऊनोदर करना चाहिए।

पुण्णुदर-अदण-गहणं, वा ऊणोदरं मे सहावो णो।
लहिदुं ससुद्धसीलं, अब्भासेज्जा तहवि णिच्चं॥113॥

पेट भरके भोजन करना अथवा ऊनोदर करना भी मेरा स्वभाव नहीं है तथापि अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने के लिए नित्य अभ्यास करना चाहिए।

कसायविकहाणिद्दा-अक्खविसय-पणया हस्सेज्ज सया।
ऊणोदरेण तम्हा, मोहक्खयेदुं कुणेमि तं॥114॥

कषाय, विकथा, निद्रा, इंद्रिय विषय व प्रणय, ऊनोदर करने से नित्य ह्रासमान होते हैं। इसलिए मोह क्षय के लिए मैं ऊनोदर करता हूँ।

वृत्तिपरिसंख्यान तप व चिंतन

कट्टु मज्जादं गेह-वीहि-रच्छा-गाम-णयरादीणं।
गच्छण-माहारत्थं, सुह-वित्तिपरिसंखाण-तवो॥115॥

घर, गली, मुहल्ला, ग्राम व नगरादि की मर्यादा करके आहार के लिए जाना शुभ वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

आहारवत्थूण अण्णदव्वादीण मज्जादं कट्टु।
आहार-ओग्गहणं दु, सुह-वित्ति-परिसंखाण-तवो॥116॥

आहार की वस्तुओं वा अन्य द्रव्यादि की मर्यादा करके आहार ग्रहण करना शुभ वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

परत्थादो णिवत्तिं, कट्टु सुद्धप्पे वित्तिं कुणंतो।
अध पवत्ति-मुज्झित्ता, वसेमि सगसुद्धप्परूवे॥117॥

पर वस्तुओं से निवृत्ति करके फिर प्रवृत्ति का त्यागकर शुद्धात्मा में वृत्ति करता हुआ मैं निज शुद्धात्म स्वरूप में निवास करता हूँ।

रसपरित्याग तप व चिंतन

लवण-खीर-तिल्ल-सप्पि-गुड-दहीण छव्विह-रसाण अहवा।
महुरिमाइ-पणविह-रस-उज्झणं रस-परिचागतवो॥118॥

नमक, दुग्ध, तेल, घी, मीठा व दही इन छः प्रकार के रसों का अथवा मीठादि (खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कसायला) पाँच प्रकार के रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप कहलाता है।

रसचागेण उहट्टदि, पमादं अदणे आसत्तिभावं।
णीरसभोयणेणं दु, रायदोसो मोहो खयेज्ज॥119॥

रसत्याग से प्रमाद व भोजन में आसक्तिभाव नष्ट होता है। एवं नीरस भोजन से राग-द्वेष व मोह नष्ट होता है।

कुणमि सुद्धप्पझाणं, सत्तीइ कुणंतो रसचागतवं।
सयलकम्मं खयेदुं, अणुभवंतो सुद्धप्परसं॥120॥

समस्त कर्मों के क्षय के लिए शक्ति के अनुसार रसत्याग तप करता हुआ, शुद्धात्म रस का अनुभव करता हुआ मैं शुद्धात्मा का ध्यान करता हूँ।

विविक्त शैय्यासन तप व चिंतन

णिज्जणे कंतारादि-पदेसेसुं चेइयालयेसुं च।
सुझाणकेंद-देसणा-गेह-सज्झायसालादीसु॥121॥

सव्वत्थादो होच्चा, णिरीहो ठादि सगप्पम्मि जो सो।
पसत्थज्झाणलीणो, विवित्त-सेज्जासण-जुत्तो य॥122॥ (जुम्मं)

जो एकांत में, वनादि प्रदेश, चैत्यालय, ध्यानकेंद्र, देशना गृह व स्वाध्यायशाला आदि में सभी पदार्थों से विरक्त होकर निजात्मा में वास करता है वह प्रशस्त ध्यान में लीन योगी विविक्त शैय्यासन तप से युक्त जानना चाहिए।

अहो जिणो! एगंते, हं अणेगंत-आलंबणं कडुअ।
सगरूवं लहमु करे, गहिय सिआवाय-पदीवं दु॥123॥

हे जिनेन्द्र देव! एकांत में अनेकांत का आलंबन कर निज हाथ में स्याद्वाद रूपी दीपक को ग्रहण कर अपने स्वरूप को प्राप्त करूँ।

कायक्लेश तप व चिंतन

भवतणभोयविरत्तो तिरयणजुदो य धम्मज्झाणरदो।
समत्तेण परिसहमुवसग्गं जयदि कायकिलेसो॥124॥

संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, रत्नत्रय से युक्त, धर्मध्यान में रत जो श्रमण समत्वभाव से उपसर्ग व परीषहों को जीतता है वह उनका कायक्लेश तप कहलाता है।

णाणसरीरी वा हं, सम्मत्ताइ-अणंतगुणपिंडो य।
अस्स देहस्स कट्ठं, ण मे रूवो कत्थ वि कयावि॥125॥

मैं ज्ञानशरीरी हूँ अथवा सम्यक्त्वादि अनंत गुणों का पिंड हूँ। इस देह का कष्ट कहीं भी कदापि मेरा स्वभाव नहीं है।

अंतरंग तप

अंतरतवो णियमादु, पहाण-कारणं सगप्पसुद्धीइ।
तेणं विणा णो को वि, होज्ज सुद्धो कयावि भव्वो॥126॥

अंतरंग तप नियम से स्वात्मशुद्धि का प्रधान कारण है। उसके बिना कोई भी भव्य जीव कदापि शुद्ध नहीं होता।

प्रायश्चित्त तप व चिंतन

पायच्छित्तं पढमो, दोस-पक्खालगो चित्त-सोहगो।
पायच्छित्तेण विणा, संभवा णो सगप्पसुद्धी॥127॥

प्रायश्चित्त नामक तप अंतरंग तप में प्रथम है। यह प्रायश्चित्त तप दोषों का प्रक्षालन करने वाला और चित्त का शोधक है। प्रायश्चित्त के बिना स्वात्मशुद्धि संभव नहीं है।

भो वीयरायदेवो! पमाद-अण्णाण-रायभावेहिं।
उप्पण्णदोस-सव्वा, होज्ज मिच्छा जिणभत्तीए॥128॥

हे वीतराग देव! प्रमाद, अज्ञान वा रागभावों से उत्पन्न मेरे सभी दोष जिनभक्ति से मिथ्या होवें।

चित्तसुद्धीए विणा, अप्पं सुज्झिदुं कहं संभवो य।
पायच्छित्तं करेज्ज, साहणं तं चित्तसुद्धीइ॥129॥

चित्त की शुद्धि के बिना आत्मा का शोधन किस प्रकार संभव हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। अतः चित्त की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त व निर्मल साधना करनी चाहिए।

विनय तप व चिंतन

दंसण-णाण-चरिय-तव-उवयारा तह पंचविहो विणयो।
तेहिं जुद-धम्मी पडि, णम्मवित्ती चिय विणयतवो॥130॥

दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप व उपचार के भेद से विनय पाँच प्रकार की जाननी चाहिए। इन गुणों से युक्त धर्मियों के प्रति नम्रवृत्ति ही विनय तप है।

माणो धम्मदाहगो, गुण-णासगो अप्पगुणघादगो य।
झाण-विराहगो तहा, जम-तव-मारगो णियमादो॥131॥

मान वा अहंकार नियम से धर्म को जलाने वाला, गुणों को नाश करने वाला, आत्म गुणों को घातने वाला, ध्यान की विराधना करने वाला एवं यम व तप को नष्ट करने वाला होता है।

भो गददोसो देवो! णो वक्कमेज्ज माणो मे चित्ते।
विणयभावो हि सददं, मम विसुद्धचित्तभूमीए॥132॥

हे दोषरहित जिनदेव! मेरे चित्त में कभी मान उत्पन्न न हो। मेरे विशुद्ध चित्त की भूमि पर निरंतर विनयभाव ही रहे।

वैय्यावृत्ति तप व चिंतन

वेज्जावच्चं सुधम्म-साहणाइ वाहग-कारण-हरणं।
मोक्खमग्गे वड्ढंत-आइरिय-पाढग-साहूणं॥133॥

मोक्षमार्ग पर बढ़ते हुए आचार्य, उपाध्याय व साधुओं की धर्मसाधना में आने वाले बाधक कारणों का परिहार करना वैय्यावृत्ति तप है।

गमणागमण-सज्झाय-तवादीहि उप्पण्ण-समं खेदं।
परिहरिदु-मब्भंगणं, वेज्जावच्चं दु विण्णेयं॥134॥

गमनागमन, स्वाध्याय व तपादि से उत्पन्न श्रम वा खेद के परिहार के लिए तैलादि से मर्दन करना वैय्यावृत्ति जानना चाहिए।

जावदु ण होमु लीणो, णिव्विअप्प-झाणे भो जिणदेवो!
तावदु रदो णिग्गंथ-साहु-चरणसेवाए सया॥135॥

हे जिनेन्द्र देव ! जब तक मैं निर्विकल्प ध्यान में लीन न होऊँ तब तक सदा निर्ग्रन्थ साधुओं की चरणसेवा में रत रहूँ।

वेज्जावच्चं सक्कं, तरणीव णित्थारिदुं भवुदहीदु।
तेण विणा णो लहीअ, लहदि लहिस्सेदि णिव्वाणं॥136॥

संसार से पार करने के लिए वैय्यावृत्ति नौका के समान समर्थ है। उस वैय्यावृत्ति के बिना न तो किसी ने निर्वाण प्राप्त किया है, न करता है और न करेगा।

स्वाध्याय तप व चिंतन

सगप्पहिदाय णिच्चं, जिणिंदपणीदागम-गंथाणं च।
वायणाइ-पणविहेण, सम्मज्झयणं दु सज्झाओ॥137॥

स्वात्महित के लिए जिनेन्द्र प्रणीत आगम ग्रंथों की वाचना आदि पाँच प्रकार से सम्यक् अध्ययन करना स्वाध्याय है।

पढमं करणं चरणं दव्वं तहा चदुविहं अणुजोगं।
आयाराइ-भेयादु, बारसविह-जिणागमो जाण॥138॥

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग—ये चार प्रकार के अनुयोग जानने चाहिए। आचारांगादि के भेद से जिनागम बारह प्रकार का जानना चाहिए।

वायणा-पिच्छणा-अणुवेक्खामणाय-धम्मुवएसेहिं।
अज्झयण-मज्झावणं, हिद-पाहण्णेण सज्झाओ॥139॥

हित की प्रधानता से वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेश से अध्ययन-अध्यापन करना स्वाध्याय है।

जिणसमये णिद्दिट्ठा, विसुद्धसंहिदा हु जिणसासणस्स।
तस्स णाण-मसंभवो, सज्झायं विणा तं करेज्ज॥140॥

जिनागम में जिनशासन की विशुद्ध संहिता कही गई है। स्वाध्याय के बिना उसका ज्ञान असंभव है इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।

णाणं विणा ण झाणं, गुण-पगासणा अप्पट्ठिदी णेव।
तं सगसत्तीए हं, धरेमि सण्णाणं झाणं च॥141॥

ज्ञान के बिना ध्यान, गुणों का प्रकटीकरण व आत्मस्थिति नहीं होती। अतः अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्ज्ञान व ध्यान धारण करता हूँ।

कायोत्सर्ग तप व चिंतन

ममत्त-भावं विहाय, देहादो चित्त-पणिही धम्मम्मि।
काउस्सग्गो समये, णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं॥142॥

देह से ममत्व भाव को छोड़कर धर्म में चित्त की एकाग्रता ही जिनागम में जिनवरेंद्रों के द्वारा कायोत्सर्ग निर्दिष्ट किया गया है।

सायरोव्व गंभीरो, मेरुव्व धीरो णाणपयासी य।
ठिदी होज्ज स-सरूवे, अप्पस्स काउस्सग्गो सो॥143॥

सागर के समान गंभीर, मेरु के समान धीर, ज्ञानप्रकाशी आत्मा जब अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है, वह कायोत्सर्ग कहलाता है।

भो भयवदो! भावेमि, णिव्विअप्प-झाणे ठादु-मसक्को।
तो तच्चचिंतण-जुत्त-काउस्सग्गे चिरं लीणो॥144॥

हे भगवन्! मैं भावना भाता हूँ कि यदि निर्विकल्प ध्यान में मैं ठहरने में अशक्य होऊँ तो तत्त्वचिंतन से युक्त कायोत्सर्ग में चिरकाल तक लीन रहूँ।

काउस्सग्गेण असुह-संवरो णिज्जरा पुव्वबद्धाण।
वरपुण्णबंधस्स सिव-हेदू य काउस्सग्ग-तवो॥145॥

कायोत्सर्ग से पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का संवर व निर्जरा होती है। यह कायोत्सर्ग तप उत्कृष्ट पुण्य बंध व मोक्ष का हेतु है।

काउस्सग्गम्मि ठिदा, जदी दिस्संति भयवदोव्व णियमा।
काउस्सग्गेण विणा, परमेट्ठि-सरूव-मसंभवो॥146॥

कायोत्सर्ग में स्थित यति नियम से भगवान् के समान दिखाई देते हैं। कायोत्सर्ग के बिना परमेष्ठी का स्वरूप असंभव है।

सव्वविह-वत्त-हेदू, अण्णाण-णासगो काउस्सग्गो।
चित्तसंति-कारणं च, सण्णाण-संजम-वड्ढगो दु॥147॥

कायोत्सर्ग सभी प्रकार के आरोग्य का हेतु, अज्ञान का का नाशक, चित्त शांति का कारण एवं सम्यग्ज्ञान व संयम का वर्द्धक है।

काउस्सग्गो णेयो, सव्वतवेसुं चिय आणपाणोव्व।
तेण विणा णहि झाणं, तं विणा सिवो संभवो णो॥148॥

कायोत्सर्ग सभी तपों में श्वासोच्छ्वास के समान जानना चाहिए। उसके बिना ध्यान और ध्यान के बिना मोक्ष संभव नहीं है।

झाणरुक्खुप्पत्ति-ठिदि-विड्ढीणं बीअं काउस्सग्गो।
तेण विणा सज्झाणं, णो जलं विणा कूवादीव॥149॥

कायोत्सर्ग ध्यानरूपी वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति व वृद्धि का बीज है। जिस प्रकार जल के बिना कूप आदि नहीं होते हैं उसी प्रकार कायोत्सर्ग के बिना सद्ध्यान भी नहीं होता है

कम्माणल-संतीए, काउसग्गो सघणमेहविट्ठीव।
जेणं कम्मकलंगं, खयित्ता फुडदि णिम्मलप्पा॥150॥

कर्म रूपी अग्नि की शांति के लिए कायोत्सर्ग सघन मेघवृष्टि के समान है। जिससे कर्मकालिमा नष्ट होकर निर्मलात्मा प्रकट होती है।

ध्यान तप व चिंतन

उत्तमसंहणण-जुत्त-जोगीहि णियचित्तेगग्गकरणं।
उत्तमझाणं णेयं, चित्तखोह-परिचागरूवं॥151॥

उत्तम संहनन से युक्त योगियों के द्वारा अपने चित्त का एकाग्र करना, चित्त के क्षोभ के परित्याग रूप उत्तम ध्यान जानना चाहिए।

महादावग्गि-झाणं, अंतोमुहुत्ते कम्मक्खयेदुं।
सक्कं झाणं लहिदुं, तं कुव्वंति जदणं जोगी॥152॥

महादावाग्नि के समान ध्यान अंतर्मुहूर्त में कर्मक्षय करने में समर्थ है अतः ध्यान प्राप्त करने के लिए योगी यत्न करते हैं।

झाणं वरपुरिसट्ठो, पप्पोदु-मप्पगुणं महाधम्मं।
झाणं सिद्ध-मित्तं च, अरिह-सहोयरो मुणि-पाणं॥153॥

आत्म गुणों को प्राप्त करने के लिए ध्यान श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, ध्यान महाधर्म है। ध्यान सिद्धों का मित्र, अरिहंतों का सहोदर व मुनियों का प्राण है।

धम्मसुक्कज्झाणं च, वत्तं सया मम अप्पपदेसेसु।
ण इदं णिदाण-कंखा, भव-खयस्स भावणा मेत्तं॥154॥

हे प्रभु! मेरे आत्मप्रदेशों में धर्मध्यान व शुक्लध्यान सदैव व्याप्त रहे। यह मेरी निदान या आकांक्षा नहीं अपितु संसार क्षय के लिए भावना मात्र है।

झाणं मोक्खं देदुं, सक्कं पत्तेयखेत्तयालेसुं।
तं भावेमि पलीदुं, उक्किट्ठ-झाणे पडिसमये॥155॥

प्रत्येक क्षेत्र व काल में ध्यान मोक्ष देने में शक्य है। अतः मैं प्रतिसमय उत्कृष्ट ध्यान में लीन होने की भावना भाता हूँ।

क्षुधा परीषहजय व चिंतन

उववासंतरायादु, रायादीदु उप्पण्णवेयणाइ।
सहणं समभावेहिं, छुहा-परीसह-जयो णेयो॥156॥

उपवास, अंतराय वा रागादि से उत्पन्न वेदना को समान भाव से सहन करना क्षुधा परीषहजय जानना चाहिए।

छुहा णो मे सहावो, अप्पस्स ण तुट्ठि-कारगं अदणं।
संतुट्ठि-कारगं सय, लीणत्तं णियप्पसहावे॥157॥

क्षुधा मेरा स्वभाव नहीं है। भोजन आत्मा को संतुष्टि प्रदान नहीं करता। निजात्म स्वभाव में लीनता ही आत्मा के लिए सदैव संतुष्टि देने वाली है।

तृषा परीषहजय व चिंतन

उण्ह-जरंतरायादु, सुक्के कंठे वेयणाए।
णेव णीर-कंखणं दु, तिसा-परीसह-जयो णेयो॥158॥

गर्मी, ज्वर वा अंतराय से कंठ के शुष्क होने पर उसकी वेदना होने पर जल की आकांक्षा नहीं करना तृषा परीषहजय जानना चाहिए।

तिव्वतिसावेयणाइ, जलाइ-सीयलत्थ-गहण-विअप्पं।
उज्झित्ता अणुभवेज्ज, अज्झप्प-रस-सीयलत्तं हु॥159॥

तीव्र तृषा की वेदना से जलादि शीतल पदार्थों के ग्रहण का विकल्प त्यागकर अध्यात्म रस की शीतलता का अनुभव करना चाहिए।

शीत परीषहजय व चिंतन

रोयम्मि सत्ति-खीणे, सीदयालम्मि सीदं दुहावेदि।
कंखदि तस्स णिवत्तिं, णेव सीद-परीसह-जयी दु॥160॥

रोग में वा शक्ति क्षीण होने पर शीतकाल में शीत (सर्दी) दु:ख देती है। जो उस शीत की निवृत्ति की आकांक्षा नहीं करता वह शीत परीषहजयी जानना चाहिए।

सीदवेयणा देहं, कट्ठं देदुं समत्था किण्णु हं।
देहरहिदो णाणाइ-गुणजुदो अमुत्तिगो णिच्चो॥161॥

शीत वेदना इस शरीर को कष्ट देने में समर्थ है किन्तु मैं देह रहित, ज्ञानादि गुणों से युक्त, अमूर्तिक वा नित्य हूँ।

ऊष्ण परीषहजय व चिंतन

सीदत्था णो कंखदि, तिव्व-उण्हयालम्मि जदी जो सो।
अप्पसरूवं इच्छदि, उण्हपरीसहजयी णेयो॥162॥

जो यति तीव्र ऊष्णकाल में भी शीतल पदार्थों की आकांक्षा नहीं करते, आत्मस्वरूप की ही आकांक्षा करते हैं वे ऊष्ण परीषहजयी जानने चाहिए।

उण्ह-वेयणा देहे, संतावं उप्पज्जिदुं समत्था।
खयेमि उण्हत्त-दुहं, णाण-झाण-सीयलत्तेणं॥163॥

ऊष्ण वेदना देह में संताप उत्पन्न करने में समर्थ है। ज्ञान व ध्यान की शीतलता से मैं ऊष्णता के दु:ख का क्षय करता हूँ।

दंसमसक परीषहजय व चिंतन

कीडादीण दंसणं, मुणिं दुहावेदि दु सव्वदा किण्णु।
देहरक्खं ण कंखदि, तस्स दंसमसग-जयो जाण॥164॥

चींटी, डांस, मच्छरादि कीटों का काटना मुनि को सर्वदा दु:ख देता है किन्तु मुनिराज देह की रक्षा की आकांक्षा नहीं करते वह उनका दंसमसक परीषहजय जानना चाहिए।

डंसिदुं मज्झ देहं, समत्था डंस-मंकणाइ-जंतू॥
णवरि णाणरूवो हं, तं डंसिदुं ण सक्को को वि॥165॥

डाँस, मच्छरादि जंतु मेरे शरीर को डसने में समर्थ हैं, किन्तु मैं ज्ञान स्वरूप हूँ और उस ज्ञान स्वरूपी आत्मा को डसने में कोई भी समर्थ नहीं है।

नग्न परीषहजय व चिंतन

जहाजाद-णिग्गंथो, बालोव्व अवियारि-मुणी कंखदि ण।
वत्थाणि विसय-विरदो, णग्गो परीसह-जयो जाण॥166॥

विषयों से विरक्त बालक के समान यथाजात निर्ग्रन्थ, अविकारी मुनिराज वस्त्रों की आकांक्षा नहीं करते वह उनका नग्न परीषहजय जानना चाहिए।

बज्झ-णिगिणिण-सहिदा य, तिरिया णेरइया सव्वा हु किण्णु।
कम्मक्खय-हेदू णो, खलु मेत्तं बज्झ-णग्गत्तं॥167॥

सभी तिर्यंच व नारकी बाह्य नग्नता से सहित हैं किन्तु मात्र बाह्य नग्नता कर्मक्षय का हेतु कभी नहीं होती।

अरति-रति-परीषहजय व चिंतन

णेव अरदी संजमे, णेव रदी असंजमे मुणिवरस्स।
कम्मणासगो णिच्चं, अरदि-रदी-परीसह-जओ हु॥168॥

मुनिराज की संयम में अरति व असंयम में रति नहीं होना उनके नित्य कर्मों का नाश करने वाला अरति-रति परीषहजय जानना चाहिए।

वट्टंत-पदत्थेसुं, सग-सग-सहावम्मि पकुव्वेमु किं।
रदि-अरदि-आइ-भावं, सगसीलादो चुइत्ता हं॥169॥

अपने-अपने स्वभाव में वर्तना करने वाले पदार्थों में अपने स्वभाव से च्युत होकर मुझे रति-अरति भाव क्यों करने चाहिए ? अर्थात् अन्य परपदार्थों में राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

स्त्री परीषहजय व चिंतन

रायुप्पण्ण-कुभावा, इत्थीसुं सव्वदा जदी जयदे।
थी-भोयं णो कंखदि, थी-परीसह-जयी जो सो दु॥170॥

यतिराज स्त्रियों में रागोत्पन्न कुभावों को सदा जीतते हैं। जो स्त्री-भोग की आकांक्षा नहीं करता वह स्त्री परीषह जयी जानना चाहिए।

चरियमोहोदयादो, थी-परिसहो दुह-हेदू पमत्ते।
अप्पा वेदरहिदो दु, चुइदुं मिमं त्थी णं सक्का॥171॥

प्रमत्तावस्था में चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री परीषह दु:ख का हेतु है। यह आत्मा वेद से रहित है। मुझे स्वभाव से च्युत करने में कोई स्त्री समर्थ नहीं है।

चर्या-निषद्या-शैय्या परीषहजय व चिंतन

रोयखेदेहि वि जुदे, पादेहि रिक्खंति जावज्जीवं।
ताणं च मुणिवराणं, चरिया-परीसह-जओ जाण॥172॥

रोग व खेद से युक्त होने पर भी मुनिराज आजीवन नंगे पैर ही चलते हैं वह उन मुनिराजों का चर्या परीषहजय जानना चाहिए।

णिज्जणेगंत-ठाणे, अच्छणं च सुहजोग-साहणाए।
पोम्मासण-पहुदीहिं, णिसज्जा-परीसह-जओ चिय॥173॥

शुभ योग साधना के लिए पद्मासन आदि से निर्जन एकांत स्थान में बैठना मुनियों का निषद्या परीषहजय जानना चाहिए।

सेज्जाइ-णिमित्तेणं, कुव्वंतो धम्म-साहणं सहणं।
उप्पण्ण-कट्ठ-दुहाण, सेज्जा-परीसह-जओ जाण॥174॥

धर्म साधना करते हुए शैय्यादि के निमित्त से उत्पन्न कष्ट व दु:खों को सहना शैय्या परीषहजय जानना चाहिए।

णेव दु अप्पसहावो, चरिया णिसज्जा सेज्जा य कयाइ।
हवंतो सगप्परदो, ण अणुभवेमि परीसहं हं॥175॥

चर्या, निषद्या व शैय्या कदाचित् भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं निजात्मा में रत होता हुआ परीषहों का अनुभव नहीं करता हूँ।

क्रोध परीषहजय व चिंतन

दुट्ठाण सद्द-भावा, कोहुप्पत्तीइ कारणं जोगी।
खमंते समत्तेणं, कोह-परीसह-जयी जे ते॥176॥

दुष्टजनों के शब्द व भाव क्रोध की उत्पत्ति के कारण होते हैं। जो योगी समत्व भाव से उन्हें क्षमा करते हैं वे क्रोध परीषहजयी कहलाते हैं।

वध परीषहजय व चिंतन

वहाइ-बहु-दुक्खेसुं, पत्तेसु दुट्ठेहि वि समभावेहि।
सहंति जे समणा ते, वह-परीसह-विजयी णेया॥177॥

दुष्टों के द्वारा वधादि बहुत दु:खों के प्राप्त होने पर भी जो श्रमण समभावों से उन्हें सहन करते हैं उन्हें वध परीषह-जयी जानना चाहिए।

बंधण-छेदण-मारण-आदीहि दूहवदि देहं दुट्ठो।
हणिदु-मप्पं ण सक्को, खमाइभावजुद-णिच्चो हं॥178॥

बंधन, छेदन, मारण आदि से दुष्टजन देह को दु:ख देते हैं। किन्तु वह मेरी आत्मा का हनन करने में समर्थ नहीं है। मैं क्षमा आदि भावों से युक्त व नित्य (शाश्वत) हूँ।

याचना-अलाभ-परीषहजय व चिंतन

छुआ-रोय-दुक्खेहिं, पाणे कंठगदे वि जायणं णो।
खलु जायणया-परिसह-जओ णेयो तच्चणाणीहि ॥179॥

क्षुधा वा रोगादि के दु:खों से प्राणों के कंठ में आ जाने पर भी याचना नहीं करना तत्त्वज्ञानियों के द्वारा सदा याचना-परीषहजय जानना चाहिए।

अंतराय-उदयादो, णो कयाइ लाहे पत्ते जोगी।
लाहं कंखंति ताण, अलाह-परीसह-जयो सो दु॥180॥

अंतराय कर्म के उदय से लाभ प्राप्त नहीं होने पर योगी कदापि लाभ की आकांक्षा नहीं करते वह उनका अलाभ परीषहजय जानना चाहिए।

जायणया-भावम्मि य, अलाहे वा विचिंतेज्जा साहू।
अकिंचणाइ-धम्मं च, सुद्धरूवं सिद्धोव्व गुणं॥181॥

याचना का भाव होने पर या अलाभ होने पर साधु अपने अकिंचनादि धर्म, शुद्ध स्वरूप व सिद्धों के समान निजात्म गुणों का चिंतन करते हैं।

रोग परीषहजय व चिंतन

उदयादो दु असादा-वेयणिज्जस्स देहो रोयजुदो।
तदा वि समत्तभावं, धरंति रोय-परीसह-जयी॥182॥

असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में रोग होता है। किन्तु रोग परीषहजयी मुनिराज तब भी समत्व भाव धारण करते हैं।

रोओ खयदि सरीरं, जदि धारेमि हं समत्तं चित्ते।
तो कम्मक्खय-हेदू, जेण ण लहिस्सामि दुहं पुण॥183॥

रोग तो शरीर को नष्ट करता है। यदि मैं चित्त में समत्व भाव धारण करता हूँ तो वह कर्मक्षय का हेतु है जिससे मैं आगे पुनः दुःख प्राप्त नहीं करूँगा।

तृणस्पर्श परीषहजय व चिंतन

तिण-कंटग-फासेणं, परतप्पंतो अवि णेव कंखेदि।
तस्स णिवत्तिं जोगी, तिणफासपरीसह-विजयी दु॥184॥

तृण, कंटकादि के स्पर्श से दुःखी होते हुए भी योगी उसकी निवृत्ति की आकांक्षा नहीं करते, वे तृणस्पर्श परीषहजयी जानने चाहिए।

गमणागमणे सक्का, तिणकंडगादी दायिदुं दुक्खं।
तम्हा अप्पम्मि थिरो, अप्पविहारो मज्झ सीलं॥185॥

गमनागमन में तृण-कंटकादि दु:ख देने में समर्थ हैं, इसलिए मैं आत्मा में स्थिर होता हूँ। आत्मा में विहार करना ही मेरा स्वभाव है।

मलपरीषहजय व चिंतन

मलेण असुइ-देहम्मि, सेदेणं च गहिदं जल्ल-रजाण।
कंडु-आइ-वेयणं च, जदी मलपरिसहजयी जयदि॥186॥

जो यति मल से अपवित्र देह में स्वेद (पसीना) से ग्रहण किए गए धूलकण, जल्ल (मैल), खुजली आदि की वेदना को जीतते हैं वे मल परीषहजयी कहलाते हैं।

जल्लं मलं सरीरे, रोस-कट्ठ-खेद-वेयणा-जणगं।
जदा देहो ण मज्झं, तदा मलादी ण दुह-हेदू॥187॥

जल्ल (मैल) व मल शरीर में रोष, कष्ट, खेद व वेदना को उत्पन्न करता है। जब देह मेरी नहीं है तब मलादि भी मेरे लिए दु:ख के हेतु नहीं हैं।

सेद-धूलकणादीहि, जणिद-जल्लं मलं पस्सिय मणेदि।
भूसण-रूवं बहु-अघ-हारगं कट्ठकारगं णो॥188॥

पसीना व धूलकणादि से उत्पन्न मैल व मल को देखकर योगी उसे बहुत पापों के नाशक आभूषणस्वरूप मानते हैं। वह उसे कष्टकारक अनुभव नहीं करते।

सत्कारपुरस्कार परीषहजय व चिंतन

णो किंचिवि कंखेदि हु, जदी सक्कारं पुरक्कारं वा।
जोग्गम्मि अवि सक्कार-पुरक्कार-परीसह-जयी दु॥189॥

यतिराज योग्य होने पर भी किंचित् भी सत्कार व पुरस्कार की आकांक्षा नहीं करते अतः वे सत्कार-पुरस्कार परीषहजयी कहलाते हैं।

सक्कार-पुरक्कारं, अप्पसहावचुदो कंखदि जीवो।
मे पदिट्ठा अप्पम्मि, तदो थिरो सगप्पम्मि अहं॥190॥

आत्मस्वभाव से च्युत जीव सत्कार-पुरस्कार की आकांक्षा करते हैं। मेरी प्रतिष्ठा मेरी आत्मा में है अतः मैं निजात्मा में स्थिर होता हूँ।

प्रज्ञा-अज्ञान-अदर्शन परीषहजय व चिंतन

विसिट्ठ-णाण-संजुदे, णाणा-विज्जा-सुकला-संजुत्ते।
अहंकारं णो कुणदि, पण्णा-परिसह-जयी णेयो॥191॥

विशिष्ट ज्ञान से संयुक्त होने पर, नाना विद्या व सुकलाओं से युक्त होने पर भी मुनिराज अहंकार नहीं करते, अतः वे प्रज्ञा परीषहजयी जानने चाहिए।

अज्झयणे चिंतणे वि, अहोरत्तीइ णाणे लद्धे णो।
किलिसेदि ण समणो जो, अण्णाण-परीसह-जयी सो॥192॥

दिन-रात अध्ययन व चिंतन करने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होने पर जो श्रमण दु:खी नहीं होता वह अज्ञान परीषहजयी जानना चाहिए।

उग्गतवं कुव्वंतो, इड्ढीसुं पत्तीसुं णो मुणीण।
असद्धाण-भावो णो, अदंसणपरिसहजयो तस्स॥193॥

उग्रतप करते हुए भी ऋद्धियों के प्राप्त नहीं होने पर अश्रद्धान का भाव नहीं होना उनका अदर्शन परीषहजय जानना चाहिए।

णाणावरणाइ-विही, ण मे सील-मणंतणाणमयो हं।
ण मे दुक्ख-हेदू तं, अण्णाण-मदंसणं पण्णा॥194॥

ज्ञानावरणादि कर्म मेरा स्वभाव नहीं हैं। मैं अनंत ज्ञानमय हूँ। अत: अज्ञान, अदर्शन व प्रज्ञा परीषह मेरे लिए दु:ख का कारण नहीं हैं।

पज्जट्ठिय-णयेणं दु, हवेज्जा अथिरा य दव्वा सव्वा।
दव्वट्ठिय-णयेणं दु, णिच्च-सस्सदा सव्व-दव्वा॥195॥

पर्यायार्थिक नय से सभी द्रव्य अनित्य होते हैं। द्रव्यार्थिक नय से सभी द्रव्य नित्य व शाश्वत होते हैं।

जे के वि भव्व-जीवा, मेत्तं पज्जट्ठिय-णयावलंबी।
बहिरा जिणसमयादो, उहयणयं आलंबेमि तं॥196॥

जो कोई भी भव्यजीव मात्र पर्यायार्थिक नय का आलंबन लेने वाले हैं वे जिनशासन से बाह्य हैं अत: मैं दोनों (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक) नयों का आलंबन लेता हूँ।

अनित्यानुप्रेक्षा चिंतन

अप्पा णिच्चाणिच्चा, दव्व-पज्जय-णयेणं विचिंतेमि।
चेयणाइ सुद्धगुणा, पागडिदु-मणिच्चाणुवेक्खं॥197॥

द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिक नय से आत्मा अनित्य है। चेतना के शुद्ध गुणों को प्रकट करने के लिए मैं अनित्यानुप्रेक्षा का चिंतन करता हूँ।

अशरणानुप्रेक्षा चिंतन

लोए ण को वि सरणो, ववहारेण पणगुरू जिणधम्मो।
णिच्छयेण सुद्धप्पा, तं गच्छामि सरणं ताणं॥198॥

लोक में कोई भी शरण नहीं है। व्यवहार से पंचगुरु व जिनधर्म शरण है और निश्चय से शुद्धात्मा शरण है। अतः मैं उन्हीं की शरण में जाता हूँ।

संसारानुप्रेक्षा चिंतन

संसारे णो किंचिवि, सुहं मुत्तोव्व तम्हा तं लहिदुं।
चउगदिभमणं खयिदुं, संसाररूवं दु चिंतेमि॥199॥

संसार में मुक्त सिद्ध जीव के समान किंचित् भी सुख नहीं है। अतः उस सुख की प्राप्ति व चतुर्गति भ्रमण के क्षय के लिए मैं संसार के स्वरूप का चिंतन करता हूँ।

एकत्वानुप्रेक्षा चिंतन

एक्को हि जीवदि मरदि, अज्जदि पुण्णं पावं अणादीदु।
दिवे णिरये तिरिच्छे, जादि वा भोयकम्ममहीसु॥200॥

जीव अनादिकाल से अकेला ही प्राण धारण करता है, अकेला ही मरता है, वह अकेला ही पुण्य व पाप अर्जित करता है और अकेला ही स्वर्ग, नरक, तिर्यंच, भोगभूमि वा कर्मभूमि में जन्म लेता है।

एक्को सम्मजदणेण, सव्वकम्मं खयिय पावदि मोक्खं।
एक्को मिच्छत्तेण, णिगोदाइं दुरावत्थं दु॥201॥

जीव अकेला ही मिथ्यात्व के वशीभूत होकर निगोदादि दुरावस्था को प्राप्त करता है एवं सम्यक् यत्नपूर्वक सर्व कर्म का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

णेव को वि मे बंधू, वा सत्तू ण दायगो हारगो ण।
अज्जिद-सगकम्मफलं, सुहासुहं भुंजेमि एक्को॥202॥

मेरा न कोई मित्र है और न कोई शत्रु। न कोई मुझे कुछ देने वाला है और न कोई कुछ लेने वाला है। अपने द्वारा अर्जित शुभाशुभ कर्मों का फल मैं स्वयं ही भोगता हूँ।

सम्मपुरिसट्ठं कुणमु, मोक्खमग्गं च गच्छेदुं तम्हा।
जदणेण विणा ण खयदि, भवभमणं मेत्तं भग्गेण॥203॥

अतः मोक्षमार्ग पर चलने के लिए मैं सम्यक्-पुरुषार्थ करता हूँ। क्योंकि यत्न के बिना मात्र भाग्य से संसार परिभ्रमण का क्षय नहीं होता।

अन्यत्वानुप्रेक्षा चिंतन

मे अप्पादो सव्वं, दव्वं पुधं हु सव्वदा सव्वत्थ।
सगसुद्ध-रूवं विणा, ण परवत्थु-भाव-पइडी मे॥204॥

मेरी आत्मा से सर्वत्र व सर्वदा सभी द्रव्य पृथक् हैं। अपने शुद्ध स्वरूप के बिना परवस्तु, परभाव व परप्रकृति मेरी नहीं है।

अप्पादो भिण्णा तणु-सजण-परिजण-पुरजणा रिउ-बंधू।
वाहणं सेवगा वा, रज्जं धण-धण्ण-विहवादी॥205॥

देह, स्वजन, परिजन, पुरजन, शत्रु, बंधु, वाहन, सेवक, राज्य, धन, धान्य अथवा वैभव आदि ये सभी आत्मा से भिन्न हैं।

सगसुद्धसरूवं जो, चिंतदि पुधं सव्वण्ण-दव्वादो।
सो भव्वो हि समत्थो, णिल्लूरेदुं भवरुक्खं च॥206॥

जो भव्य जीव सभी अन्य द्रव्यों से पृथक अपने शुद्ध स्वरूप का चिंतन करता है वह संसार रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ने में समर्थ है।

अशुचि अनुप्रेक्षा चिंतन

पुरीसाइ-पिंडोव्व दु, अपवित्त-देहो इमो सहावादु।
मलघडम्मि सुई कहं, अप्पसुद्धी देहसुद्धीइ॥207॥

यह देह स्वभाव से ही मलादि के पिंड के समान अपवित्र है। उचित ही है मल के घड़े में पवित्रता कैसे हो सकती है? अर्थात् मल से परिपूरित मल घड़े के समान इस

शरीर में पवित्रता वा निर्मलता कभी नहीं हो सकती। ऐसे शरीर की शुद्धि से आत्मा की शुद्धि कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती।

लोए सुई-पदत्था, होज्ज अपवित्ता देहफासेणं।
तम्मि रदिकरणं किं ण, दुहदं चेट्ठा व्व मूढाणं।।208।।

लोक में पवित्र पदार्थ भी देह के स्पर्श से अपवित्र हो जाते हैं। ऐसे उस शरीर में रति करना क्या मूर्खों की चेष्टा के समान दु:खद नहीं है अर्थात् अवश्य दु:खद है।

सेट्ठ-तव-झाण-करणं, लहिय रयणत्तयं हु देह-सारो।
णेव संजम-विरहिदा, संसणीया अप्पघादीव।।209।।

रत्नत्रय को प्राप्त कर श्रेष्ठ तप व ध्यान करना ही इस मनुष्य देह का सार है। संयम से रहित मनुष्य आत्मघातक के समान प्रशंसनीय नहीं होते।

आस्रवानुप्रेक्षा चिंतन

मिच्छत्त-कसायजोग-अविरदिपमादेहि आसवो होज्ज।
ताण णिरोहोवायं, चिंतदु भवकारणं जम्हा।।210।।

मिथ्यात्व, कषाय, योग, अविरति व प्रमाद से आस्रव होता है। क्योंकि ये सभी संसार के कारण हैं इसलिए इनके निरोध के उपाय का चिंतन करना चाहिए।

संवरानुप्रेक्षा चिंतन

वदसमिदिंदियरोहो, गुत्ती-परीसहजयावसिय-तवा।
चरिय-धम्माणुवेक्खा, संवर-हेदू सिव-णिमित्तं।।211।।

व्रत, समिति, इंद्रियनिरोध, गुप्ति, परिषहजय, आवश्यक, तप, धर्म व अनुप्रेक्षा संवर के हेतु और मोक्ष के निमित्त हैं।

निर्जरानुप्रेक्षा चिंतन

पुव्वबद्धकम्माणं, इगदेस-सडणं णिज्जरा दुविहा।
समये चिय सविवागी, समयपुव्वम्मि अविवागी य॥212॥

पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश झरना निर्जरा है। वह निर्जरा सविपाकी और अविपाकी के भेद से दो प्रकार की है। अपने समय पर कर्मों का झरना सविपाकी निर्जरा और समय के पूर्व कर्मों का एकदेश झरना अविपाकी निर्जरा है।

अविवागी णिज्जरा दु, णियमा णिव्वाण-कारणं णेया।
उण्हत्तं व अग्गिणा, उवकसदि सिवं अविवागीइ॥213॥

अविपाकी निर्जरा नियम से मोक्ष की कारण जाननी चाहिए। जैसे अग्नि से ऊष्णता प्राप्त होती है वैसे ही अविपाकी निर्जरा से मोक्ष प्राप्त होता है।

लोकानुप्रेक्षा चिंतन

संसारी णियमादो, भमदि मिच्छत्तवसेण संसारे।
कम्मं च विच्छिदेदुं, चिंतेज्जा लोय-संठाणं॥214॥

संसारी जीव मिथ्यात्व के वशीभूत होकर नियम से संसार में परिभ्रमण करता है। कर्म विच्छेद के लिए लोक-संस्थान का चिंतन करना चाहिए।

बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा चिंतन

बोही मोक्ख-कारणं, कम्मविणासगा अप्पसोहगा य।
तं मुत्ति-सहिं विणा ण, सिद्धी घणं विणा विट्ठीव॥215॥

बोधि (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) कर्म विनाशक, आत्मशोधक व मोक्ष का कारण है। बोधि मुक्ति की सखी है। उस बोधि के बिना सिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि वैसे ही नहीं होती जैसे मेघ के बिना वृष्टि।

णिगोदादो थावरो, तादो बे-ते-चउ-पंचिंदिया य।
तत्तो सण्णी मणुजो, तादु उत्तम-देहो देसो॥216॥

उत्तम-जादी कुलो य, दिग्घाऊ सेट्ठधी सुसंगदी य।
सुभावा देसव्वदं, णिगामदुल्लहा कमेणं दु॥217॥ [जुम्मं]

निगोद से स्थावर व स्थावर से क्रमशः दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय व पंचेंद्रिय होना दुर्लभ है। उससे संज्ञी पंचेंद्रिय व मनुष्य पर्याय दुर्लभ है। पुनः उत्तम देह, उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम कुल, दीर्घायु, श्रेष्ठ बुद्धि, सुसंगति, श्रेष्ठ भाव व देशव्रत क्रमशः अत्यंत दुर्लभ हैं।

सम्मत्तं सण्णाणं, सच्चरियं रयणत्तयं हि बोही।
अच्चंत-दुल्लहा चिय, उहयसेणी सिद्धावत्था॥218॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही बोधि है। बोधि की प्राप्ति, उपशम व क्षपक श्रेणी व सिद्धावस्था अत्यंत दुर्लभ है।

धर्मानुप्रेक्षा चिंतन

दुविहो धम्मो सावय-समणाणं ववहार-णिच्छयाणं।
भेयादो जाणेज्जा, धरदि उत्तमसुहे दुहादो॥219॥

जो जीव को दु:ख से उत्तम सुख में रख दे वह धर्म है। श्रावक-श्रमण वा व्यवहार-निश्चय के भेद से धर्म दो प्रकार का जानना चाहिए।

संक्लिष्टासंक्लिष्ट भावना

कंदप्पीखिब्भिसा य, अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
संकिलिट्ठा-भावणा, पंचविहा अवहरेज्ज जदी॥220॥

कंदर्पी, किल्विष, आभियोग्य, आसुरी व सम्मोह—ये पाँच प्रकार की संक्लिष्ट भावनाएँ जाननी चाहिए। जिनका यतिराज परिहार करते हैं।

तव-सुद-सत्त-एगत्त-धिदिबल-भावणा असंकिलिट्ठा य।
भावेज्ज जोगी सया, सल्लेहणा-इच्चादी अवि॥221॥

तप, श्रुत, सत्त्व, एकत्व और धृतिबल ये असंक्लिष्ट भावनाएँ होती हैं। योगी को ये असंक्लिष्ट भावनाएँ व सल्लेखना इत्यादि की भावना भी भानी चाहिए।

सोलहकारण भावना

दंसणविसुद्धि-पहुदी, सोलहकारण-भावणा भावेज्ज।
अप्पविसुद्धीइ असुह-संवरस्स विउल-णिज्जराइ॥222॥

आत्म विशुद्धि, अशुभ कर्मों के संवर व विपुल निर्जरा के लिए दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावना भी भानी चाहिए।

ग्रंथ पठन फल

गंथिमो समणभावो, जदीण पहाण-हेदू विसुद्धीइ।
चित्तविसुद्धीए तह, कारणं संवर-णिज्जराण।।223।।

यह "**समणभावो**" श्रमणभाव नामक ग्रंथ मुनियों की विशुद्धि का प्रधान हेतु, चित्त विशुद्धि एवं संवर व निर्जरा का कारण होगा।

ग्रंथ लेखन उद्देश्य

लिहिदो सुगुरुकिवाए, अप्पविसुद्धीइ वसुणंदिणा मइ।
णवरि ण कंखा चित्ते, मज्झ खाइ-पूया-लाहाण।।224।।

यह श्रमण भाव नामक ग्रंथ मेरे आचार्य वसुनंदी के द्वारा गुरु कृपा से आत्म विशुद्धि के लिए लिखा गया। विशेषता यह है कि मेरे चित्त में ख्याति, पूजा, लाभादि की आकांक्षा किंचित् भी नहीं है।

ग्रंथकार की लघुता

अण्णाण-पमादेहिं, जदि को वि दोसो इमम्मि गंथम्मि।
सोधयंतु खमंतु मे, सुद्ध-रयणत्तय-साहगा दु।।225।।

अज्ञान व प्रमाद से यदि कोई भी दोष इस ग्रंथ में हो तो शुद्ध रत्नत्रय साधक उसका संशोधन करें एवं मुझे क्षमा करें।

अंतिम मंगलाचरण

चरियचक्कि-माइरियं, संतिं पायसायरं जयकित्तिं।
देसभूसणं णमामि, मम गुरु-सूरि-विज्जाणंदं।।226।।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज, महातपस्वी आचार्य श्री पायसागर जी मुनिराज, अध्यात्म योगी आचार्य श्री जयकीर्ति जी मुनिराज, भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज एवं मेरे गुरु राष्ट्र संत क्षपकराज शिरोमणि आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) नमस्कार करता हूँ।

प्रशस्ति

महरट्ठरायहाणी-बोरीवल्लीए पसत्थजोगे।
सिद्धसुगुण-सिक्खावद-आराहणा-णह-वीरद्धे।।227।।
गुरुस्स किवादिट्ठीइ, पुण्णो गंथो गुरु-पुण्णतिहीए।
समप्पेमि गुरु-विज्जाणंद-आइरिय-मिमा किदी हु।।228।।

(जुम्मं)

महाराष्ट्र की राजधानी मुंबई के बोरीवल्ली नामक स्थान पर सिद्धों के गुण (8), शिक्षाव्रत (4), आराधना (4), आकाश (2) ''अंकानां वामतो गतिः'' से 2448 वीर निर्वाण संवत् में, प्रशस्त योग में गुरुदेव की कृपादृष्टि से गुरु की पुण्यतिथि पर यह ग्रंथ पूर्ण हुआ। इस कृति ''श्रमण-भाव'' नामक ग्रंथ को मैं अपने गुरु आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को समर्पित करता हूँ।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108
वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा रचित व संपादित साहित्य
मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य			
1.	णंदिणंदसुत्तं (नंदीनंद सूत्र)	2.	अज्जसक्किदी (आर्य संस्कृति)
3.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)	4.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
5.	जदि-किदिकम्मं (यति कृतिकर्म)	6.	धम्मसुत्तं (धर्म सूत्र)
7.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)	8.	जिणवरथोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
9.	तच्च-सारो (तत्त्व सार)	10.	विज्जावसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)
11.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)	12.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13.	रयणकंडो (प्राकृत सूक्ति कोश)	14.	मंगलसुत्तं (मंगलसूत्र)
15.	अट्ठंगजोगो (अष्टांग योग)	16.	णमोयार-महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
17.	विस्सपुज्जो दियंबरो (विश्वपूज्य दिगंबर)	18.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
19.	मूलवण्णो (मूलवर्ण)	20.	विस्सधम्मो (विश्व धर्म)
21.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)	22.	समवसरण-सोहा (समवसरण शोभा)
23.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)	24.	को विवेगी (विवेकी कौन)
25.	तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)	26.	कलाविण्णाणं (कला विज्ञान)
27.	अप्पसत्ती (आत्म-शक्ति)	28.	वयणपमाणत्तं (वचनप्रमाणत्व)
29.	सिरिसीयलणाहचरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)	30.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
31.	असोग रोहिणी चरियं, अशोक रोहिणी चरित्र	32.	खवगराय-सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33.	लोगुत्तर-वित्ती (लोकोत्तर वृत्ति)	34.	पसमभावो (प्रशम भाव)
35.	समणभावो (श्रमण भाव)	36.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)
37.	झाणसारो (ध्यान सार)	38.	समणायारो (श्रमणाचार)
39.	सम्मेदसिहरमाहप्पं, सम्मेद शिखर माहात्म्य	40.	जिणवयण-सारो (जिनवचन सार)
41.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त)	42.	विणयसारो (विनय सार)
43.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)	44.	तव-सारो (तपसार)
45.	भाव-सारो (भावसार)	46.	दाण-सारो (दानसार)
47.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)	48.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)
49.	णाण-सारो (ज्ञानसार)	50.	णीदि-सारो (नीति सार)
51.	धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)	52.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
53.	प्राकृत वाणी भाग-1-2-3-4		

टीका ग्रंथ			
1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र

इंग्लिश साहित्य			
1.	Inspirational Tales	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य			
1.	मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)	2.	बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3.	शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)	4.	स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य			
1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू
13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9 (सोलहकारण भावना)
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17 (बारह भावना)
31.	चूको मत	32.	जय बजरंगबली
33.	जीवन का सहारा	34.	ठहरो! ऐसे चलो
35.	तैयारी जीत की	36.	दशामृत
37.	धर्म की महिमा	38.	ना मिटना बुरा है न पिटना

39.	नारी का धवल पक्ष	40.	शायद यही सच है
41.	श्रुत निर्झरी	42.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
43.	सीप का मोती (महावीर जयंती)	44.	स्वाति की बूँद

हिंदी गद्य रचना			
1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	रोहिणी व्रत कथा
27.	स्वप्न विचार	28.	सद्गुरु की सीख
29.	सफलता के सूत्र	30.	सर्वोदयी नैतिक धर्म
31.	संस्कारादित्य	32.	हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना			
1.	अक्षरक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना			
1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौंसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दु:खों से मुक्ति (वृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	समवसरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान

11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान
17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान
21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना	26.	अभिनव सिद्धचक्र महार्चना

प्रथमानुयोग साहित्य

1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चरित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र

31.	रामचरित्र (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास
49.	सुदर्शन चरित्र (आ. श्री विद्यानंदी जी)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)

1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	अध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्रीमद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च-वियारो सारो (सि. च. आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)

27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री अमितगति जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)	32.	वसुऋद्धि
*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

संपादित हिंदी साहित्य

1.	अरिष्ट निवारक त्रय विधान • नवग्रह विधान • वास्तु निवारण विधान • मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)		
2.	श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान		
3.	श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक		
4.	शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी) • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)		
5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)

9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य			
1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु सुबंधं (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		